हिन्दी की दलित आत्मकथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन

पी–एच॰डी॰ (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध

शोध–निर्देशक

प्रो॰ गोबिन्द प्रसाद

शोधार्थी

राजेश कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI-110057, INDIA

Dated: 21/7/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitled 'HINDI KI DALIT ATMKATHAON KA ALOCHANATMAK ADHYAYAN' **(A CRITICAL STUDY OF DALIT AUTOBIOGRAPHIES IN HINDI)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

राजेश कुमार

RAJESH KUMAR
(Research Scholar)

(DR. GOBIND PRASAD)
Supervisor
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature &
Culture Studies,
J.N.U. New Delhi-110067

(DR. GOBIND PRASAD)
Chairperson
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature &
Culture Studies,
J.N.U. New Delhi-110067

दिवंगत माँ की स्मृति को

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

भूमिका 2–5

पहला अध्याय

आत्मकथा की परम्परा और दलित आत्मकथा 6–57

1. साहित्य में विधाओं का प्रश्न
2. आत्मकथा और दलित आत्मकथा
3. दलित आत्मकथा की विचारधारात्मक पृष्ठभूमि
4. हिन्दी की दलित आत्मकथाएँ

दूसरा अध्याय

दलित आत्मकथा : चिन्तन एवं जीवन–दृष्टि 58–88

1. दलित चिन्तन की अवधारणा
2. दलित चिन्तन और दलित आत्मकथा
3. अनुभव की प्रामाणिकता सम्बन्धी प्रश्न
4. दलित आत्मकथा में जीवन–दृष्टि की व्यापकता

तीसरा अध्याय

दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त जीवन–स्थितियाँ 89–149

1. सामाजिक स्थिति : बहिष्कृत अस्मिता का जीवन
2. आर्थिक स्थिति : श्रम की उपेक्षित संस्कृति
3. राजनैतिक स्थिति : सत्ता–समीकरण की विषमताएँ
4. धार्मिक स्थिति : चेतना की आदिम अवस्था
5. शैक्षिक स्थिति : विकास का मूल आधार
6. यथास्थितिवाद के प्रति विद्रोह

चौथा अध्याय

दलित आत्मकथाओं का भाषिक चिन्तन 150–178

1. भाषा, साहित्य, समाज और संस्कृति
2. अभिव्यक्ति का नया मुहावरा
3. उत्पीड़न और संघर्ष से उपजी भाषा का बदलता चेहरा
4. भाषा में स्थानीयता के प्रति आग्रह
5. भाषा में श्लीलता–अश्लीलता

उपसंहार 179–182

सहायक ग्रन्थ–सूची 183–193

भूमिका

अस्मिता–विमर्श से सम्बद्ध साहित्य पर शोध का एक कारण 'फ़ैशन' हो सकता है, जैसा कि प्रायः लोग आरोप लगाते हैं, लेकिन यह अन्तिम और एकमात्र कारण नहीं। मेरी दृष्टि में इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण है इस विषय की समकालीन प्रासंगिकता और उपयोगिता। अगर प्रासंगिक विषय को स्वीकृति नहीं मिलेगी तो अप्रासंगिक हो जाने के बाद भला इसे कौन और क्यों स्वीकार करेगा !

जाति–व्यवस्था भारतीय समाज–संस्कृति की वह विकृति है जिसे इसकी स्थापना से लेकर आज तक व्यवहार में तो लागू किया जाता रहा है, लेकिन ब्राह्मणवादियों द्वारा इसे कभी स्वीकार नहीं किया गया। देश–दुनिया में बहुत कुछ बदल गया, प्रासंगिक ने अप्रासंगिक को पदच्युत कर दिया; लेकिन जाति–व्यवस्था तमाम ज़रूरी सन्दर्भों को धकियाकर जबरन ज्यों–की–त्यों बनी हुई है। दलित साहित्य की रचना और इस पर शोध तब तक ज़रूरी बना रहेगा, जब तक यह जाति–व्यवस्था बची रहेगी।

दलित आत्मकथाओं ने हिन्दी साहित्य में एक नई धारा की शुरुआत की । इन आत्मकथाओं ने एक ओर तो 'आत्मकथा' विधा को साहित्य में स्थापित किया, दूसरे भारतीय समाज के उस विकृत सत्य को उद्‌घाटित किया जो हज़ारों साल से इस देश की शक्ति को भीतर–ही–भीतर क्षीण करता हुआ और भी सशक्त होता जा रहा है, लेकिन तथाकथित संभ्रांत वर्ग इसके अस्तित्व मात्र से इंकार करता रहा है। दलित आत्मकथाओं के प्रति मेरे मन में आकर्षण शुरू से था। गुरुवर प्रो॰ गोबिन्द प्रसाद एवं प्रो॰ रामचन्द्र तथा सहपाठियों–मित्रों के साथ दलित आन्दोलन और साहित्य पर अक्सर चर्चा होती रही है। इन्हीं स्थितियों ने मुझे दलित आत्मकथाओं पर शोध करने के लिए आकर्षित किया।

'हिन्दी की दलित आत्मकथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन' शीर्षक इस शोध–प्रबंध को कुल चार अध्यायों तथा इन अध्यायों को आवश्यकतानुसार विभिन्न उप–अध्यायों में विभाजित किया गया है। 'आत्मकथा की परम्परा और दलित आत्मकथा' में कुल चार उप अध्याय हैं–– 'साहित्य में विधाओं का प्रश्न', 'आत्मकथा और दलित आत्मकथा', 'दलित आत्मकथा की विचारधारात्मक पृष्ठभूमि' तथा 'हिन्दी की दलित आत्मकथाएँ'। पहले उप

अध्याय में कला तथा साहित्य की विभिन्न विधाओं के व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक विभाजन के औचित्य पर विचार किया गया है तथा दूसरे उप अध्याय में हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत आत्मकथा विधा एवं दलित आत्मकथा का परिचय दिया गया है। तीसरा उप अध्याय दलित साहित्य की सामान्य अवधारणा और पृष्ठभूमि से सम्बद्ध है तथा चौथे उप अध्याय में इस शोध के लिए चयनित दलित आत्मकथाओं के सामान्य परिचय सहित उनका सारांश प्रस्तुत किया गया है। शोध कार्य के अत्यधिक विस्तार की संभावना से बचने के लिए तथा आत्मकथाओं के महत्व को ध्यान में रखते हुए 'शोध प्रारूप' के समय चयनित दो लेखकों की आत्मकथाओं को शामिल नहीं किया जा सका।

दूसरे अध्याय 'दलित आत्मकथा : चिंतन एवं जीवन–दृष्टि' में भी कुल चार उप अध्याय हैं––'दलित चिंतन की अवधारणा', 'दलित चिंतन और दलित आत्मकथा', 'अनुभव की प्रामाणिकता सम्बन्धी प्रश्न' तथा 'दलित आत्मकथा में जीवन–दृष्टि की व्यापकता'। इस अध्याय में दलित साहित्य तथा दलित आत्मकथा के विचारधारात्मक सम्बन्धों का अध्ययन है। पहले उप अध्याय में दलित चिंतन एवं दलित चेतना की अवधारणा और इनकी परस्पर निर्भरता को स्पष्ट करते हुए दूसरे उप अध्याय में दलित चिंतन एवं दलित आत्मकथा के पारस्परिक सम्बन्ध को रेखांकित किया गया है। दलित साहित्य के मूल आधार अनुभव की प्रामाणिकता से सम्बद्ध तर्क–वितर्क का अध्ययन तीसरे उप अध्याय में किया गया है तथा मानव जीवन, दलित जीवन एवं दलितेतर जीवन के प्रति दलित आत्मकथाकारों के व्यापक दृष्टिकोण का मूल्यांकन चौथे उप अध्याय में है।

शोध प्रबंध का तीसरा अध्याय 'दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त जीवन–स्थितियाँ' दलित जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और शैक्षिक स्थितियों का विश्लेषण करते हुए यथास्थितिवाद के विरुद्ध किये गए दलितों के संघर्ष को रेखांकित करता है। औपचारिक दृष्टि से इस अध्याय को कुल छह उप अध्यायों––'सामाजिक स्थिति : बहिष्कृत अस्मिता का जीवन', 'आर्थिक स्थिति : श्रम की उपेक्षित संस्कृति','राजनैतिक स्थिति : सत्ता–समीकरण की विषमताएँ', 'धार्मिक स्थिति : चेतना की आदिम अवस्था', 'शैक्षिक स्थिति : विकास का मूल आधार' तथा 'यथास्थितिवाद के प्रति विद्रोह' में विभाजित किया गया है। इन पाँचों उप अध्यायों का अध्ययन पारस्परिक रूप से सम्बद्ध दृष्टि से किया गया है क्योंकि इनका विभाजन जितना सरलीकृत है, पारस्परिक सम्बन्ध उतना ही जटिल।

'दलित आत्मकथाओं का भाषिक चिन्तन' शीर्षक चौथे और अन्तिम अध्याय को भी कुल पाँच उप अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले उप अध्याय 'भाषा, साहित्य, समाज और संस्कृति' में इन चारों के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा है। दूसरे उप अध्याय 'अभिव्यक्ति का नया मुहावरा' में आत्मकथा विधा के रूप में 'दलित आत्मकथा' के शिल्पगत वैशिष्ट्य की संक्षिप्त चर्चा है। तीसरे उप अध्याय 'उत्पीड़न और संघर्ष से उपजी भाषा का बदलता चेहरा' में दलित आत्मकथाओं में प्रयुक्त भाषा की उग्रता और आक्रोश की समीक्षा है तथा चौथे उप अध्याय 'स्थानीयता के प्रति आग्रह' में दलित आत्मकथाओं में प्रयुक्त भाषा के स्थानीय तत्वों पर चर्चा है। पाँचवें उप अध्याय 'भाषा में श्लीलता–अश्लीलता' के अन्तर्गत दलित आत्मकथाओं में प्रयुक्त भाषा के तथाकथित अश्लील प्रयोगों के औचित्य–अनौचित्य का मूल्यांकन है।

साहित्यिक–कलात्मक समझ की पूर्वपीठिका के निर्माण से लेकर शोध–विषय के चुनाव, सामग्री–संचयन के सुझाव, प्रारूप–निर्माण तथा समय–समय पर विषय सम्बन्धी आवश्यक सुझाव–संकेत के लिए और अन्ततः इस शोध को पूरा करने में अमूल्य निर्देशन के लिए बहुमुखी प्रतिभा के धनी, 'सम्पूर्ण संस्कृति कर्मी' गुरुवर प्रो॰ गोबिन्द प्रसाद को धन्यवाद ज्ञापित कर मैं उनके प्रति केवल अपनी श्रद्धा ही व्यक्त कर सकता हूँ; उनसे उऋण नहीं हो सकता... होना भी नहीं चाहता। गोबिन्द सर की अनुपस्थिति में कुछ समय तक सहायक शोध–निर्देशक की औपचारिकता निभाने तथा हमेशा शोध–सम्बन्धी परामर्श देने के लिए तत्पर एवं उपलब्ध, दलित साहित्य के विशेषज्ञ, गुरुवर प्रो॰ रामचन्द्र के प्रति मेरा हार्दिक आभार जिनसे सम्पूर्ण अस्मिता–विमर्श तथा दलित साहित्य को जानने–समझने का अवसर मिला। उन दलित विद्वानों, आलोचकों, रचनाकारों के प्रति भी हार्दिक आभार जिनकी पुस्तकों का 'आधार–ग्रंथ' एवं 'संदर्भ–ग्रंथ' के रूप में अध्ययन कर मुझे ज्ञानवर्द्धन का अवसर मिला।

बड़े–से–बड़े संकट में भी दृढ़–अविचल पिता जी की तो उपस्थिति मात्र ही मेरे संघर्षों की प्रेरणा–स्रोत रही है....'हिम्मत सिंह' और 'जंग बहादुर' जैसे उनके दो मजबूत नामों ने मुझे हमेशा साहस दिया है। बड़े भाई साहब, संजय, सरिता, सविता, श्रेयांश, दिव्यांश, प्रांजल आदि सभी परिजनों का उत्साहवर्धक स्नेह मेरे लिए प्रेरणा स्रोत रहा है। बचपन से ही अभिन्न मित्र रहे राहुल और जे॰एन॰यू॰ के 'मित्र सह अभिभावक' अनूप जी का मेरी उच्च शिक्षा में अमूल्य योगदान रहा है; उनके प्रति आभार व्यक्त कर मैं इस

निश्छल–निर्विकार मित्रता को औपचारिकता में नहीं बदलना चाहता। शोध कार्य पूरा करने में समय–समय पर विशेष रूप से मार्गदर्शन के लिए दीनामणि सर के प्रति भी आभार। मित्र प्रवीण के प्रति हार्दिक आभार जिन्होंने शोध–प्रारूप के निर्माण से लेकर अध्ययन सामग्री के संचयन तक अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया तथा समय–समय पर यथावश्यक सूचनाएँ उपलब्ध कराते रहे। मित्र चन्द्रकांत, बृजेश, नितिन, शिव रविदास, शाश्वत, जीतेन्द्र, अंकित तथा चन्द्रजीत भइया के प्रति भी आभार जिन्होंने प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से इस अध्ययन में मेरा सहयोग किया।

पत्नी बबिता के प्रति कोई आभार, कोई धन्यवाद कैसे व्यक्त किया जाय....बहुत संकोच हो रहा है। वास्तव में अध्ययन बाधित होने के बाद इस शोध ग्रंथ को पूरा करने के लिए इन्होंने ही समय–समय पर मुझे प्रेरित किया, अन्यथा.....। सहपाठी होने के नाते जे॰एन॰यू॰ के परिवेश से बाहर केवल यही हैं जिन्होंने शोध–विषय तथा अन्य सम्बद्ध विषयों पर विचार–विमर्श के माध्यम से मेरे अध्ययन को पुष्ट किया। अर्पिता और आरिन का सहयोग अमूल्य है जिन्होंने शोध प्रबन्ध को अन्तिम रूप देने के व्यस्ततम समय में मेरी जगह घरेलू जिम्मेदारियाँ संभाल कर मुझे मुक्त और निश्चिंत रखा।

राजकीय महाविद्यालय, माँट, मथुरा, उ॰प्र॰ के अपने वरिष्ठ सहयोगियों––डॉ0 जीत सिंह, डॉ0 रवीन्द्र कुमार सरोनिया एवं डॉ0 दीन दयाल के प्रति हार्दिक आभार, जिन्होंने मेरे स्थानीय अभिभावक की–सी भूमिका निभाते हुए मेरे अध्ययन में कोई बाधा नहीं आने दी। अंततः जे॰एन॰यू॰ एवं साहित्य अकादमी के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा कर्मचारियों का धन्यवाद जिन्होंने अध्ययन सामग्री उपलब्ध कराकर मेरा सहयोग किया। श्री हरि कम्प्यूटर्स, मथुरा के संचालक श्री सौरभ अग्रवाल तथा टाइपिस्ट सहयोगी खुशीपाल सैनी के प्रति भी हार्दिक आभार जिनके सहयोग के बिना यह शोध प्रबन्ध मूर्त रूप न धारण कर पाता।

अगर मेरा यह अध्ययन दलित आत्मकथाओं को समझने तथा समता–स्वतंत्रता–बंधुता पर आधारित समाज के निर्माण के लिए तत्पर दलित साहित्य का महत्व प्रतिपादित करने में अंश मात्र भी सफल हुआ तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

धन्यवाद

राजेश

पहला अध्याय

आत्मकथा की परम्परा और दलित आत्मकथा

1. साहित्य में विधाओं का प्रश्न
2. आत्मकथा और दलित आत्मकथा
3. दलित आत्मकथा की विचारधारात्मक पृष्ठभूमि
4. हिन्दी की दलित आत्मकथाएँ

पहला अध्याय

आत्मकथा की परम्परा और दलित आत्मकथा

संस्कृति सभ्यता का अनिवार्य अंग है तो कलाओं के बिना संस्कृति अपूर्ण। कलाएँ ही जीवन को सरस और सुरुचिपूर्ण बनाती हैं। अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों और प्रकारों ने विविध कला रूपों को जन्म दिया है। इन्हीं में से एक साहित्य भी है। साहित्य भाव–विचार–ज्ञान की अभिव्यक्ति के साथ ही अन्य कलाओं को समृद्ध और संरक्षित करता है तथा साथ ही उन्हें संचरणशील भी बनाता है। दलित आत्मकथाओं ने आत्मकथा को साहित्य की केन्द्रीय तथा महत्वपूर्ण विधा के रूप में स्थापित किया है। इसने भारतीय समाज में व्याप्त जाति–व्यवस्था की उन विरूपताओं को यथार्थ रूप में दर्शाया जिन्हें स्वीकार करने की बजाय प्रायः नकारा ही गया है। इस नकार के कारण ही हमारा समाज जड़ बना हुआ है। दलित आत्मकथाओं ने इस जड़ता को तोड़कर समता–स्वतंत्रता– बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना के प्रयासों को दृढ़ता प्रदान की है।

1. साहित्य में विधाओं का प्रश्न

संसार भर में विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं का सतत विकास प्रकृति और संस्कृति के बीच द्वंद्व का परिणाम है। सृष्टि का एक अंश होने के नाते मनुष्य भी प्रकृत है। सभ्य और संस्कृत होने से पहले, आदिम काल में जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके सारे क्रियाकलाप प्रकृत थे। 'प्रकृति', 'प्रकृत' और 'प्राकृत' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'बृहत् हिन्दी कोश' में लिखा है–

> ''**प्रकृति–** स्वभाव **xxx** मूल गुण या धर्म **xxx** ''[1] ''**प्रकृत–**प्रकृति से उत्पन्न, प्रकृति के अनुरूप; जो बनावटी न हो, स्वाभाविक, शुद्ध, असल, अविकृत **xxx** ''[2] ''**प्राकृत–**प्रकृति–संबन्धी, प्रकृति का, असंस्कृत **xxx** स्वाभाविक ''[3]

तो जो कुछ अपने मूल रूप में होता है, वह 'प्रकृत रूप' होता है। किंतु संवेदनशील और बौद्धिक प्राणी होने के कारण मनुष्य में अपने भावों और ज्ञान को अभिव्यक्त करने की इच्छा भी होती है। इच्छाओं की अभिव्यक्ति और उनकी क्रियात्मक परिणति के

---

1. बृहत् हिन्दी कोश, सम्पादक–कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, पृष्ठ : 719
2. वही, पृष्ठः 719
3. वही, पृष्ठः 751

फलस्वरूप कालान्तर में उसके बहुत से क्रियाकलाप धीरे धीरे प्रकृति से दूर होते गये और वह संस्कृत होता गया। मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों में भी भाव और विचार उठते हैं। और वे अपने–अपने ढंग से उन्हें व्यक्त भी करते हैं। इस प्रकार अंशतः वे भी संस्कृत हुए 'संस्कृत' और 'संस्कृति' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'बृहत् हिन्दी कोश' में लिखा गया है–

> ''**संस्कृत–**वि0 (सं0) सुरचित, सुनिर्मित; **xxx** सुधारा हुआ, परिष्कृत किया हुआ **xxx** अलंकृत किया हुआ, सजाया हुआ।''[4]
>
> ''**संस्कृति–**स्त्री0 (सं0) पूरा करना, शुद्धि, सुधार, परिष्कार **xxx** सजावट **xxx** आचरणगत परंपरा, सभ्यता का वह स्वरूप जो आध्यात्मिक एवं मानसिक वैशिष्ट्य का द्योतक होता है;''[5]

'प्रकृति' से इतर जो कुछ भी है वह 'संस्कृति' तो है, लेकिन वह सापेक्षिक भी है। उसके 'सुनिर्मित' या 'परिष्कृत' होने का आशय यह नहीं कि 'प्रकृत' विकृत है। यह विकार ही परिष्कार हैं। सृष्टि का जो अंश अपने 'प्रकृत' रूप में अनुपयोगी या अप्रयोज्य है उसमें उपयोगिता के अनुरूप परिवर्तन ही उसका परिष्कार या सुधार है। यह सुधार, परिष्कार या संस्कार प्रकृति से नहीं मिलता, बल्कि प्रत्येक प्राणी उसे अपने प्रयास से या अपने पूर्वजों से अर्जित करता है। यह अर्जन ही संस्करण है, जिसका फल संस्कार है और जिसका विकास संस्कृति। 'संस्कृति' को परिभाषित करते हुए श्यामाचरण दुबे लिखते हैं–

> ''सीखे हुए व्यवहार–प्रकारों की उस समग्रता को जो किसी समूह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है, संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन यापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं, वे ही उस समूह की संस्कृति हैं।''[6]

तो संस्कृति किसी समाज की भौतिक उपलब्धियों और अभौतिक व्यवहार–प्रणाली का संकलन है। इसके दो रूप हैं– अनिवार्य संस्कृति और ऐच्छिक संस्कृति। पशु–पक्षियों का प्रजनन, समूहचर्या, घोंसले और बिल बनाना, भोजन का संग्रहण आदि अनिवार्य संस्कृति है जो जीवन–यापन के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनायी

---

4. वही, पृष्ठ : 1178
5. वही, पृष्ठ : 1178
6. श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति, पृष्ठ : 69

जाती है। इन्हीं के समानान्तर मनुष्य के क्रिया कलाप, वस्त्र, आदि मनुष्य की भी अनिवार्य संस्कृति का हिस्सा हैं। जीवन–यापन के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अर्जित की गई अनिवार्य संस्कृति तक तो सभी प्राणी समान हैं, किंतु ऐच्छिक संस्कृति मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग और विशिष्ट बनाती हैं। विभिन्न सामाजिक–राजनीतिक संस्थाएँ, धर्म–सम्प्रदाय, जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त विभिन्न संस्कार और कर्मकाण्ड तथा कलात्मक अभिव्यक्तियाँ ऐच्छिक संस्कृति का हिस्सा हैं, जिन्हें मनुष्य अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार अपनाता या छोड़ता है। ऐच्छिक संस्कृति में कला का स्थान सर्वोपरि है। कला की उत्पत्ति के संदर्भ में अज्ञेय द्वारा की गई इसकी परिभाषा ध्यातव्य है। वे लिखते हैं–

> "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न––अपर्याप्तता के विरूद्ध विद्रोह––है।"[7]

इस परिभाषा को तार्किक और व्यावहारिक सिद्ध करने के लिए कला की उत्पत्ति के संदर्भ में अज्ञेय यह काल्पनिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि आदिमकाल में किसी कारणवश कोई व्यक्ति समाजिक जिम्मेदरियों को पूरा करने में अपने आप को शारीरिक रूप से असमर्थ पाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के प्रयास में अनजाने ही कला का अविष्कार कर बैठा। लेकिन कला जैसी विलक्षण और विशिष्ट निर्मिति किसी असमर्थ का अविष्कार नहीं हो सकती। मात्र अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए किसी असमर्थ व्यक्ति द्वारा कला का प्रारम्भ किया गया होगा, यह न तार्किक प्रतीक होता है, न व्यावहारिक। बल्कि अपने भावों, विचारों और ज्ञान को अभिव्यक्त करने तथा उन्हें दूसरे तक संप्रेषित करने की सामान्य प्रवृति के फलस्वरूप मनुष्य द्वारा कला का प्रारम्भ हुआ होगा। यह भी संभव है कि प्रारम्भ में कलाएँ मानव मस्तिष्क की अनसुलझी ग्रंथियों की भाँति अमूर्तन के स्तर तक अस्पष्ट रही हों और और बाद में परिष्कृत होते–होते वे यथार्थ रूप में आईं । संभवतः वही प्रागैतिहासिक अमूर्तन आज पुनर्जीवित हो उठा है––नवीन एवं विशिष्ट कला रूप में।

कला के उद्‌भव के संदर्भ में यह भी संभव है कि प्रारम्भ में अनिवार्य संस्कृति की विकास–प्रक्रिया के अनन्तर कई वस्तुओं, क्रियाओं आदि में कलात्मकता के समावेश पर बल दिया जाता रहा हो, कालान्तर में उसी कलात्मकता को उपयोगिता से अलग कर

---

7. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ; साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, संपादक : कृष्णदत्त पालीवाल; पृष्ठ : 42

स्वतंत्र कला के रूप में विकसित किया गया हो। अनिवार्य संस्कृति से उत्पन्न कलाओं की स्वतंत्रता के बाद अन्य कलाओं (ऐच्छिक संस्कृति) का उद्‌भव होता गया है। 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' के विवाद का समाधान भी इसी में छिपा हुआ है। जिन कलाओं को हम केवल कलाओं के उद्‌देश्य से सृजित करते हैं, उनकी भी कोई–न–कोई उपयोगिता जीवन में होती है, होनी ही चाहिए। जिन कलाओं को हम जीवन के लिए उपयोगी मानते हैं तथा उन पर 'कला जीवन के लिए' का विचार आरोपित करते हैं, उनमें भी न्यून्तम इतनी कलात्मकता तो होनी ही चाहिए कि वे अधिकाधिक रोचक तथा संप्रेषणीय बन सकें। कोई भी कला जितनी रोचक होगी, उसकी संप्रेषणीयता की संभावना उतनी ही अधिक होगी; अंततः वह उतनी ही उपयोगी सिद्ध होगी।

तो कला की विभिन्न विधाओं का विकास अपने उपयोगिता काल में ही हुआ होगा। कालान्तर में ऐच्छिक संस्कृति की ओर मानव जाति की रुचि के फलस्वरूप विभिन्न कला–विधाओं में विशिष्टता तथा पारस्परिक अन्तर में वृद्धि हुई होगी। इसी बढ़ते अन्तर ने विधाओं के अलगाव तथा वैशिष्ट्य को सुस्पष्ट किया होगा। हालाँकि प्रायः विभिन्न कलाओं की मूल संवेदनाएँ एक ही होती हैं, बस उन संवेदनाओं को व्यक्त करने के माध्यम अलग–अलग होते हैं। संवेदनाओं का अलग–अलग माध्यम से व्यक्त होना ही कला की विविध विधाओं के जन्म का मूल कारण है। जैसे रेखाओं और रंगों के माध्यम से अभिव्यक्त कला–रूप चित्रकला है तो ध्वनि–रूप अभिव्यक्ति संगीत कला। इसी तरह भंग्यात्मक एवं गत्यात्मक लय से नृत्यकला की अभिव्यक्ति होती है तो मात्र स्थिर भंगिगा की स्थूल पदार्थों के माध्यम से अभिव्यक्ति मूर्ति कला है। ध्वनि, स्थिर भंगिमा तथा गत्यात्मक–भंग्यात्मक लय की संयोजित अभिव्यक्ति से उत्पन्न कला–रूप अभिनय है तो लिपि के माध्यम से रचनात्मक शब्द–संयोजन साहित्य।

सामान्य अर्थ में किसी भी विषय पर लिखित सामग्री को साहित्य माना जाता हैं। उदाहरण के लिए, किसी खेल के बारे में लिखित सम्रगी को उस खेल का साहित्य कहते हैं। इसी प्रकार योग के बारे में, दवा के बारे में, किसी ब्रांड के बारे में लिखित सामग्री को क्रमशः योग साहित्य, औषधि साहित्य, कम्पनी साहित्य कहते हैं। इस दृष्टि से किसी उत्पाद की जानकारी और उसके प्रचार से सम्बन्धित लिखित सामग्री को भी साहित्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार अध्ययन के विभिन्न विषयों की लिखित सामग्री को भी साहित्य ही कहा जाएगा।

इन व्यापक अर्थों की दृष्टि से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है– (1) केवल जानकारी बढ़ाने वाला साहित्य 'सूचनात्मक साहित्य' है (2) जानकारी के साथ–साथ हमारी समझदारी भी बढ़ाने वाला साहित्य 'विवेचनात्मक साहित्य' है (3) तीसरी श्रेणी है 'रचनात्मक साहित्य'। ऐसी पुस्तकों के विषय में उन्होंने लिखा है ––

> ''यह आवश्यक नहीं कि इस श्रेणी की पुस्तकों से नयी जानकारी ही प्राप्त हो वे हमारी जानी हुई बातों को भी नये सिरे से कह सकती हैं और फिर भी हमें बार–बार उन्हीं जानी हुई बातों को पढ़ने के लिए उत्सुक बना सकती हैं। ये पुस्तकें हमें सुख–दुख की व्यक्तिगत संकीणर्ता और बुनियादी सकड़ों से ऊपर ले जाती हैं और सम्पूर्ण मनुष्य जाति के––और भी आगे बढ़कर प्राणि मात्र के––दुख–शोक, राग–विराग, आह्लाद–आमोद को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देती हैं। वे पाठक के ह्रदय को इस प्रकार कोमल और संवेदनशील बनाती हैं कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थ को भूलकर प्राणिमात्र के दुःख–सुख को अपना समझने लगता है––सारी दुनिया के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। xxx कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि की पुस्तकें इसी श्रेणी की हैं। एक शब्द में इस तीसरी श्रेणी के साहित्य को 'रचनात्मक–साहित्य' कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसी पुस्तकें हमारे ही अनुभवों के ताने–बाने से एक नये रसलोक की रचना करती हैं। इस प्रकार की पुस्तकों को ही संक्षेप में 'साहित्य' कहते हैं।''[8]

यहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। इस दृष्टि से तो किसी भी प्रकार की लिखित सामग्री को 'साहित्य' मान लेना पड़ेगा जो कि अतिव्याप्ति है। इसलिए उपर्युक्त उद्धरण में उल्लिखित 'साहित्य' के अन्तिम अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। आज 'साहित्य' शब्द का सामान्यतः जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है, वह रचनात्मक साहित्य है।

हिन्दी गद्य के विकास से पहले तक 'साहित्य' के लिए 'काव्य' शब्द प्रयुक्त होता था। बाबू श्याम सुन्दरदास ने भी इस ओर संकेत किया है। गणपतिचन्द्र गुप्त तो अपनी पुस्तक 'साहित्य'–विज्ञान ' में तर्कशः यह सिद्ध करने का प्रयास भी करते हैं–

---

8. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर, पृष्ठः 1–2

'' 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' से मानी गई है। साहित्य का अर्थ है––साथ, संग, युक्त आदि। सहित का भाववाचक रूप ही साहित्य है, अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'साहित्य' शब्द का अर्थ है––साहचर्य। xxx पहले साहित्य के स्थान पर काव्य का ही प्रयोग होता था (।) छठी–सातवीं शती में भामह ने काव्य की परिभाषा करते हुए लिखा था–''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' अर्थात् शब्द और अर्थ का मेल ही काव्य है। आगे चलकर अन्य आचार्यों ने भी भामह की 'शब्दार्थ सहित' वाली बात को बारम्बार दोहराया है। संभवतः प्रयत्न लाघव की प्रेरणा से ही इसी 'शब्दार्थौ सहितौ' का ही संक्षिप्त संकेतात्मक शब्द 'सहित' चल पड़ा हो।'' [9]

'काव्य' के रूप में साहित्य को परिभाषित करने का प्रयास संस्कृत काव्यशास्त्र से ही प्रारम्भ हो गया था। इसकी एक समृद्ध और लम्बी परम्परा भी रही है। यहाँ गणपतिचन्द्र गुप्त ने साहित्य को परिभाषित करने के साथ–साथ इस शब्द को तार्किक दृष्टि से क्रमशः 'सहित' और 'सहितौ' से निसृत करने का प्रयास किया है। अपनी पुस्तक 'साहित्येतिहासः संरचना और स्वरूप' में डॉ0 सुमन राजे ने साहित्य को परिभाषित करने के तीन मूल आधारों की चर्चा की है। इन्हीं आधारों के बहाने उन्होंने साहित्य के कार्यों और उद्देश्यों को भी अपने विश्लेषण में सम्मिलित करने का प्रयास किया है–

''साहित्य की परिभाषा मूलतः तीन आधारों पर की जाती रही है। पहला आधार उद्देश्यमूलक है। साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति की खोज का आधार भी यही है। स–हित अर्थात 'हित की भावना के सहित' ''सहितस्य भावः साहित्यं''। xxx दूसरा आधार माध्यम मूलक है। शब्द और अर्थ के माध्यम से व्यक्त होने वाली रचना साहित्य है xxx तीसरा आधार है विषयवस्तु। ज्ञान की महान पंरपराओं को वहन करने वाले साधन को साहित्य की संज्ञा दी गई है।''[10]

उद्देश्य, माध्यम और विषयवस्तु, साहित्य–रचना के इन तीनों मूल आधारों को केन्द्र में रखकर ही इसकी अवधारणा को समग्र रूप में समझा जा सकता है।

अभिव्यक्ति–माध्यम के आधार पर कला की विभिन्न विधाएँ हैं और इन माध्यमों में वैविध्यपूर्ण अन्तर के आधार पर कला की एक विधा 'साहित्य' की भी कई विधाएँ हैं। वस्तुतः

---

9. गणपति चन्द्र गुप्त, सहित्य–विज्ञान, पृष्ठ : 19

10. सुमन राजे, साहित्येतिहास, संरचना और स्वरूप; पृष्ठ : 50

कोई एक विधा अभीष्ट के सभी आयामों की अभिव्यक्ति अकेले नहीं कर पाती; कुछ–न–कुछ छूट ही जाता है। इन छूटे हुए अंशों की अभिव्यक्ति के प्रयास में ही नई विधाओं का जन्म होता है। लेकिन साहित्य की नई विधाओं के उद्‌भव–विकास का कारक केवल यही नहीं है; इसके अनेक कारण हैं–

1. मानव जीवन की संवेदनाओं को सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने के लिए।

2. अलग–अलग विषयों तथा अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए उन्हीं के अनुरूप शिल्प–माध्यमों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए।

3. अधिकाधिक संप्रेषणीयता के लिए।

4. कलात्मक प्रयोगों के लिए।

5. साहित्य–रूपों के प्रयोग की विविधता के लिए।

6. व्यक्तिगत रुचि।

7. रचनाकार का व्यक्तिगत कौशल।

स्थूल रूप से साहित्य को पद्य तथा गद्य दो रूपों में विभाजित किया जाता है। पद्य के रूप हैं––1. प्रबंध : (क) महाकाव्य (ख) खण्डकाव्य 2. मुक्तक : (क) गीत (ख) प्रगीत (ग) अन्य प्रकार के काव्य

गद्य की विभिन्न विधाएँ हैं––1. निबंध 2. आलोचना 3. कहानी 4. उपन्यास 5. संस्मरण 6. जीवनी 7. आत्मकथा 8. रेखाचित्र 9. यात्रावृत्तांत 10. पत्र 11 डायरी 12. नाटक 13. रिपोर्ताज आदि।

2. आत्मकथा और दलित आत्मकथा

आत्माभिव्यक्ति की इच्छा किसी भी कला–रचना का मूलभूत कारण है। यह इच्छा न हो तो कला अजन्मी ही रह जाए; और जिसका जन्म न हो, उसका कोई नाम भी नहीं हो सकता। किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के प्रति श्रद्धालु मन की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में जो जीवन–वृत्त लिखा जाता है वह जीवनी होती है। यही साहित्यिक अभिव्यक्ति जब कोई अपने जीवन वृत्त को केन्द्र में रखकर करता है तो आत्मकथा की रचना होती है। मृत्यु के बाद भी संसार में बचे रहने की प्रेरणा को जीवनी और आत्मकथा लिखे जाने का एक कारण माना जा सकता है। बहुत से राजा–महाराजा, बादशाह–सुल्तान इसी उद्देश्य से अपना जीवन–चरित्र लिखवाते थे। प्रशस्तियों के रूप में इन चरित्र काव्यों के बदले दरबारी कवियों को पुरस्कृत किया जाता था।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य एक दूसरे के जीवन में रुचि लेता है, जिसके परिणामस्वरूप जीवनी तथा आत्मकथा की रचना होती है। इनकी रचना का सबसे महत्वपूर्ण, सार्थक तथा प्रत्यक्ष कारण है ऐसी रचनाओं के चरित्र के अनुभवों एवं जीवन–प्रसंगों द्वारा पाठकों तक लाभ पहुँचाना। किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति की जीवनी समाज के अन्य लोगों को सबसे अधिक प्रभावित–प्रेरित करती है। विशेषतः इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर जीवनीकार जीवनी–चरित्र का चयन करता है। आत्मकथाकार भी इसी बात को ध्यान में रखकर पाठकों से अपने अनुभव साझा करना चाहता है। इन दोनों ही विधाओं को जीवनीपरक साहित्यिक विधा माना जाता है। 'जीवनी' शब्द को स्पष्ट करते हुए 'हिन्दी साहित्य कोश' (भाग–1) में लिखा गया है––

> ''किसी व्यक्ति विशेष के जीवन वृत्तान्त को जीवनी कहते हैं। जीवनी का अंग्रेजी पर्याय 'लाइफ' अथवा 'बायोग्राफी' है। हिन्दी में जीवनी को जीवन चरित अथवा जीवन–चरित्र भी कहा जाता है। इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं जान पड़ता। जीवन–चरित्र कालान्तर में किंचित् शुद्ध होकर जीवन चरित्र बन गया और इसी का आधुनिक एवं संक्षिप्त रूप जीवनी अब सर्वाधिक प्रचलित है।''[11]

इस उद्धरण में साहित्य की उस व्यापक 'जीवनी' विधा की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जिसमें 'जीवनी' तथा 'आत्मकथा' दोनों शामिल हैं। इससे आत्मकथा

---

11. हिन्दी साहित्य कोश, (भाग–1); प्रधान सम्पादक : डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ : 259

से इतर केवल 'जीवनी' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो पाया है। जीवनी तथा आत्मकथा का पारस्परिक अन्तर अस्पष्ट ही रह गया। 'जीवनी' को परिभाषित करते हुए डॉ0 बैजनाथ सिंहल लिखते हैं––

> ''व्यक्ति–विशेष के जीवन पर जब साहित्यिक शैली में स्वयं सम्बद्ध व्यक्ति द्वारा न लिखा जाकर जब कोई दूसरा व्यक्ति लिखता है तो उसे हम जीवनी की संज्ञा देते हैं।''[12]

यह परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है जिसमें यह बताया गया है कि जब किसी व्यक्ति का जीवन–चरित्र किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखा जाता है तो उस लेखन को जीवनी कहते हैं।

जीवनीपरक साहित्य की दूसरी महत्वपूर्ण विधा 'आत्मकथा' है। इसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए 'हिन्दी साहित्यकोश' (भाग–1) में लिखा गया है––

> ''आत्मकथा लेखक के अपने जीवन से सम्बद्ध वर्णन है। आत्मकथा के द्वारा अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व दिखलाया जाना सम्भव है।''[13]

उपर्युक्त उद्धरण से न तो 'आत्मकथा' विधा की गहनता का बोध होता है, न उसकी व्यापकता का। 'लेखक के अपने जीवन से सम्बद्ध वर्णन' अन्य विधाओं––संस्मरण, यात्रावृत्तांत, डायरी, पत्र आदि में भी होता है, लेकिन इनमें से किसी को भी आत्मकथा नहीं कहा जा सकता। आत्मकथाकार अपने बीते हुए जीवन का केवल सिंहावलोकन नहीं करता। आत्मकथा लिखने के लिए उसे स्मृतियों में प्रवेश कर जिये गए जीवन को पुनः जीना पड़ता है; भूतपूर्व जीवन के संघर्षों–कष्टों से दुबारा गुज़रना पड़ता है। आत्मकथा विधा को परिभाषित करते हुए प्रो0 माजदा असद लिखती हैं–

> ''किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं लिखित अपने जीवन का इतिहास आत्मकथा कहलाता है।''[14]

इस परिभाषा में साहित्य और इतिहास का अंतर ही मिट गया है, जबकि इन दोनों विधाओं

---

12. डॉ0 बैजनाथ सिंहल, हिन्दी की प्रमुख विधाएँ, पृष्ठ : 190
13. हिन्दी साहित्यकोश (भाग–1), संपादक : डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ : 77
14. प्रो0 माजदा असद, गद्य की नई विधाओं का विकास, पृष्ठ : 57

में कई सूक्ष्म और स्थूल अंतर हैं। आत्मकथा एक साहित्यिक रचना होती है, और कोई भी साहित्यिक रचना ऐतिहासिक तो हो सकती है, मात्र इतिहास नहीं। इतिहास किसी स्थान, काल, व्यक्ति, परिवेश आदि से सम्बद्ध तथ्यों–सूचनाओं का संग्रह मात्र होता है, जबकि एक साहित्यिक कृति, यदि वह ऐतिहासिक हो तो भी, कम–से–कम तथ्यात्मक सूचनाओं या इनके अभाव में भी, किसी स्थान, काल, परिवेश में सहज प्रवेश की क्षमता और तत्सम्बन्धी संवेदना से युक्त होती है। आत्मकथा चूँकि व्यक्ति विशेष के भूतकाल से सम्बद्ध होती है, तो इसमें ऐतिहासिक तत्वों–तथ्यों के समावेश से इनकार नहीं किया जा सकता, किंतु एक साहित्यिक कृति होने के नाते इसे इतिहास नहीं कहा जाना चाहिए। आत्मकथा के सम्बन्ध में डॉ0 मैथिली प्रसाद भारद्वाज लिखते हैं––

> ''जब व्यक्ति स्वयं अपने सुख–दुखों, अपनी परिस्थितियों, अपने अनुभवों आदि को निष्पक्ष, भावपूर्ण और तथ्यपरक अभिव्यक्ति देने में प्रवृत्त होता है तो वह जीवन–चरित वर्ग की ही आत्मकथा विधा का प्रणयन करता है।''[15]

उपर्युक्त परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और संतुलित है जो आत्मकथा की विशेषताओं को स्वयं में व्याप्त करती है। डॉ0 हरिमोहन ने आत्मकथा विधा को इस प्रकार परिभाषित किया है–

> ''आत्मकथा वह जीवनीपरक प्रबन्धात्मक कथेतर गद्य विधा है, जिसमें लेखक सचेत होकर, अपने अतीत हुए समग्र जीवन का निःसंकोच, निष्कपट और ईमानदारी से विवेचन–विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें 'स्व' के साथ–साथ बाह्य विश्व से सम्बद्ध मानसिक क्रिया–प्रतिक्रियाओं, घात–प्रतिघातों का कलात्मक अंकन होता है।''[16]

पूर्ववर्ती परिभाषाओं से इतर डॉ0 हरिमोहन की इस परिभाषा में आत्मकथाकार के जीवन की समग्रता, जीवन का निष्कपट और ईमानदार दृष्टि से विवेचन–विश्लेषण भी सम्मिलित है। दूसरी महत्वपूर्ण बात, इसमें 'स्व' के अतिरिक्त बाहय विश्व के प्रति अपने सम्बन्ध का अंकन तथा तीसरी बात है कलात्मकता का समावेश। आगे डॉ0 हरिमोहन आत्मकथा विधा के कुछ सामान्य लक्षणों का भी उल्लेख करते हैं।[17]

---

15. डॉ0 मैथिली प्रसाद भारद्वाज, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृष्ठ : 401
16. डॉ0 हरिमोहन, साहित्यिक विधाएँ, पुनर्विचार, पृष्ठ : 246
17. वही, पृष्ठ : 246

1. आत्मकथा जीवन के जिये हुये क्षणों का ब्यौरा है।

2. इसमें जीवन का आत्म–निरीक्षण एवं विश्लेषण आवश्यक है।

3. यह स्वयं का स्वलिखित इतिहास है।

4. इसका विषय स्वयं लेखक ही है।

5. यह व्यक्तिलक्षी एवं वस्तुलक्षी––दोनों है।

6. इसमें सत्य और यथार्थ का होना आवश्यक है।

'हिन्दी विश्वकोश' के अनुसार आत्मकथा के लिए आवश्यक गुण निम्नवत् हैं[18]––

(1) उत्तम स्मृति (2) अपने प्रति तटस्थता (3) स्पष्टवादिता

(4) अति आत्मसमर्थन अथवा अति संकोच, दोनों प्रकार की मानसिक स्थितियों से मुक्त होना (5) अपने जीवन की घटनाओं को चुनते समय, कौन सी घटनाएँ सार्वजनिक महत्व की होंगी, इसका विवेक अर्थात् कलात्मक दृष्टि और (6) आकर्षक निवेदन शैली

लेखक की स्मृति उत्तम न हो, लेकिन वह डायरी, संस्मरण, पत्र आदि माध्यमों से अपनी स्मृति को तत्काल और लगातार संरक्षित करता रहा हो, तो भी आत्मकथा लिख सकता है, क्योंकि उसके पास 'उत्तम स्मृति' के विकल्प हैं। 'हिन्दी विश्वकोश' में उल्लिखित उपर्युक्त बिन्दुओं में से दूसरे एवं चौथे बिन्दु में कोई अन्तर नहीं है। दूसरे बिन्दु, 'तटस्थता' को ही विस्तृत शब्दों में लिखकर चौथा बिन्दु बना लिया गया है, जो अनावश्यक विस्तार है। तीसरा बिन्दु, 'स्पष्टवादिता' निश्चय ही एक आवश्यक गुण है, जिसके अभाव में आत्मकथा का अभीष्ट संदेश असंप्रेषित भी रह सकता है। पाँचवें बिन्दु में उल्लिखित घटनाओं के चयन में सार्वजनिक महत्व का ध्यान कुछ सीमा तक आवश्यक प्रतीत होता है, लेकिन यह अनिवार्य नहीं। आत्मकथाकार के जीवन की वे घटनाएँ जो सार्वजनिक महत्व की नहीं हैं, किन्तु लेखक उन्हें किसी अन्य दृष्टि से महत्वपूर्ण मानता है, आत्मकथा का अंग बनने के योग्य हैं। इस बिन्दु को कलात्मक दृष्टि भी नहीं कहा जा सकता। छठें बिन्दु 'आकर्षक निवेदन शैली' में 'कलात्मक दृष्टि' अवश्य होनी चाहिए, ताकि रचना की संप्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता में अपेक्षित वृद्धि हो सके, क्योंकि यही रचना का मुख्य

---

18. हिन्दी विश्वकोश, संपादक : डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ : 346

उद्देश्य है।

डॉ0 बैजनाथ सिंहल आत्मकथा के चार तत्व बताते हैं;[19] जो 'हिन्दी विश्वकोश' में उल्लिखित उपर्युक्त गुणों से अलग प्रतीत नहीं होते। डॉ0 शशि सहगल के अनुसार आत्मकथा के निम्नलिखित सात तत्व हैं[20] ––

1. अपने स्व को विश्लेषित करने की क्षमता
2. समकालीन परिवेश की गहरी पकड़
3. आत्मकथा में आये दूसरे चरित्रों के प्रति तटस्थ दृष्टि
4. रोचकता
5. कथा में एकसूत्रता
6. विश्वसनीयता
7. सरल भाषा तरल शैली

डॉ0 शशि सहगल ने आत्मकथा के तत्वों का परिष्कृत और संशोधित रूप प्रस्तुत किया है। रोचकता, विश्वसनीयता और कथा में एकसूत्रता ऐसे तत्व हैं जो आत्मकथा को महत्वपूर्ण बनाते हैं। रोचकता जहाँ उसकी संप्रेषणीयता में वृद्धि करती है, वहीं विश्वसनीयता उसके महत्व को बढ़ाती है। एकसूत्रता कथा को कहने और समझने में सहायक होती है। डॉ0 हरिमोहन ने विभिन्न बिन्दुओं को एक सूत्र में पिरोकर आत्मकथा विधा के कुल तीन तत्व बताए हैं[21]–

1. **आत्म तत्व** : वैयक्तिकता अथवा आत्मोद्घाटन, आत्म–विश्लेषण और आत्मगोपन के आयामों से युक्त स्वयं लेखक का अपना जीवन।

2. **कथा तत्व :** 'आत्मकथा' में निजी जीवन का सत्य, सुसम्बद्ध ढंग से इस प्रकार दिया जाता है कि उसे स्मृतियों के आधार पर 'पुनर्सृजित जीवन' के रूप में पाठकों तक पहुँचाया जा सके।

---

19. डॉ0 बैजनाथ सिंहल, हिन्दी विधाएँ : स्वरूपात्मक अध्ययन, पृष्ठ : 186–187
20. डॉ0 शशि सहगल, साहित्य विधाएँ, पृष्ठ : 87
21. डॉ0 हरिमोहन, साहित्यिक विधाएँ पुनर्विचार, पृष्ठ : 246–250

3. **परिवेश** : परिवेश या कहें सामाजिक एवं बाहय परिस्थितियों के अंकन से आत्मकथा में जीवन्तता आती है। इन्हीं के बीच से इनमें समुपस्थित कारणों और शक्तियों से टकराकर इनके साहचर्य से ही 'आत्म' के व्यक्तित्व को आकार मिलता है।

साहित्य की विभिन्न विधाओं में पारस्परिक सम्बन्ध उन्हें एक दूसरे के निकट लाता है तथा उन्हें महत्वपूर्ण भी बनाता है। कई बार एक विधा दूसरी विधा से शैली या सामग्री भी ग्रहण करती है। हिन्दी साहित्य की जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण डायरी आदि विधाओं का आत्मकथा से निकट सम्बन्ध है।

आत्मकथा और जीवनी : आत्मकथा तथा जीवनी दोनों में ही व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन या जीवन के महत्वपूर्ण अंशों का तथ्यात्मक, कथात्मक एवं कलात्मक वर्णन होता है। आत्मकथा का पात्र स्वयं उसका लेखक ही होता है जबकि जीवनी का पात्र कोई अन्य होता है तथा लेखक कोई और। आत्मकथाकार अपनी आत्मकथा केवल अपने जीवन–काल में ही लिख सकता है, जबकि जीवनी पात्र के जीवन–काल में भी लिखी जा सकती है और उसकी मृत्यु के बाद भी। आत्मकथाकार का अपने जीवन से सम्बन्धित तथ्यों एवं सूचनाओं के लिए किसी अन्य (स्रोत) पर निर्भर रहना आवश्यक नहीं, जबकि जीवनी लेखक को सारी सामग्री प्रत्यक्ष–दर्शन के अलावा अन्य स्रोतों (पात्र तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों के साक्षात्कार, सम्बन्धित स्थलों की यात्रा, पात्र द्वारा या पात्र से सम्बन्धित लिखित सामग्री के अध्ययन, शोध आदि से जुटानी पड़ती है। यदि अनिवार्य हो तो जीवनीकार को अपनी कल्पना का भी प्रयोग करना पड़ता है, जबकि आत्मकथाकार के पास काल्पनिक लेखन की कोई संभावना नहीं हेाती।

आत्मकथा और रेखाचित्र : रेखाचित्र में किसी व्यक्ति, वस्तु या संदर्भ का बाह्य तथा यथासंभव आन्तरिक रूपांकन पूर्णतः तटस्थ एवं निर्लिप्त भाव से किया जाता है। आत्मकथा वस्तुतः 'आत्म' से सम्बद्ध होती है, लेकिन उसमें आत्मकथाकार के जीवन से सम्बद्ध ऐसे भी व्यक्ति, वस्तु या सन्दर्भ आते हैं जो उसके परिवेश तथा तत्कालीन परिस्थितियों को पूर्णता में व्यक्त करने के लिए उपयोगी होते हैं। अतः आत्मकथा–लेखन में रेखाचित्र की ये विशेषताएँ उपयोगी हैं।

आत्मकथा और संस्मरण : सुदूर अतीत या निकट अतीत में किसी विशिष्ट एवं प्रेरक व्यक्तित्व से अपनी भेंट तथा उससे जुड़े प्रेरक प्रसंगों के साथ लेखक द्वारा उपर्युक्त व्यक्ति के बाह्य एवं आन्तरिक व्यक्तित्व का वर्णन संस्मरण कहलाता है। संस्मरण में लेखक पात्र से प्रेरित–प्रभावित रहता है। संस्मरण को जीवनी का एक अंश भी माना जा सकता है। आत्मकथा में ऐसे संस्मरणात्मक चरित्र प्रायः उपस्थित होते हैं जो उसे और भी मूल्यवान बना देते हैं। आत्मकथा चूँकि स्मृति पर आधारित होती है, इसलिए इसे संस्मरणों का समुच्चय भी कह सकते हैं। ऐसे संस्मरण किसी विशिष्ट व्यक्ति ही नहीं, बल्कि आत्मकथाकार के जीवन में आये हर व्यक्ति, वस्तु, स्थान, घटना को केन्द्र में रखकर लिखे जाते हैं।

आत्मकथा और डायरी : डायरी को दैनन्दिनी या रोज़नामचा भी कहते हैं। सामान्यतः इसमें लेखक की दिनचर्या का लेखा–जोखा होता है, लेकिन जिस डायरी में दैनन्दिन क्रियाकलापों के स्थूल वर्णन की बजाय वैचारिक अभिव्यक्तियाँ तथा तात्कालिक घटनाओं, परिवेश एवं परिस्थितियों तथा स्वयं लेखक की मनः स्थितियों पर बौद्धिक प्रतिक्रिया व्यक्त की गई हो, वह भविष्य की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान होती है। आत्मकथा को ऐसी डायरी का विस्तृत रूप भी कहा जा सकता है। इस प्रकार आत्मकथा तथा डायरी का सबसे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। समय–समय पर लिखी गई डायरियाँ भविष्य में आत्मकथा–लेखन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराती हैं।

आत्मकथा और यात्रावृत्तांत : सामान्यतः किसी यात्रा का वृत्तांत–लेखन यात्रा–वृत्तांत कहलाता है। जब कोई यात्री यात्रा में आये विभिन्न स्थानों, प्रकृति, मनुष्य आदि के प्रति आत्मीयता के साथ कलात्मक ढंग से उनका वर्णन साहित्य में करता है तो उसे यात्रा–वृत्तांत कहते हैं। आत्मकथा में चूँकि लेखक के पूरे जीवन का ब्यौरा होता है, अतः लेखक द्वारा की गई यात्राओं का वर्णन भी आत्मकथा का हिस्सा बनता है। ऐसी यात्राएँ आत्मकथाकार के व्यक्तित्व और उसके अनुभव को समृद्ध करती हैं। इस प्रकार आत्मकथा तथा यात्रा–वृत्तांत का भी गहरा सम्बन्ध है।

आत्मकथा और आत्मकथात्मक कहानी–उपन्यास : यथार्थवादी रूप तथा 'मैं' शैली में लिखे गए कहानी–उपन्यास को आत्मकथात्मक शैली की रचना कहा जाता है। इनका प्रस्तुतिकरण सत्य घटनाओं की तरह होता है। यथार्थवादी तथा 'मैं' शैली की दृष्टि से देखने पर आत्मकथा से इनका कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। अर्थात् शिल्प की दृष्टि से

आत्मकथात्मक कहानी या आत्मकथात्मक उपन्यास तथा आत्मकथा समान होते हैं। बल्कि इन्हें 'आत्मकथात्मक' कहा ही इसीलिए जाता है कि ये आत्मकथा शैली में लिखे जाते हैं। इनमें एकमात्र महत्वपूर्ण और निर्णायक अन्तर होता है कल्पना और यथार्थ का। 'मैं' शैली में लिखे गए कहानी या उपन्यास कल्पना पर आधारित होते हैं जबकि आत्मकथाएँ पूर्णतः यथार्थ जीवन का चित्रण होती हैं।

हिन्दी आत्मकथा–लेखन का प्रारम्भ सन् 1641 में बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथा' से होता है। सामान्य जन के बोलचाल के निकट यह आत्मकथा अपने कथ्य एवं शिल्प, दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। लेखक के निजी जीवन के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक–धार्मिक–राजनीतिक सन्दर्भों का भी संक्षिप्त परिचय इस आत्मकथा के माध्यम से प्राप्त होता है। 'अर्द्धकथा' की सहज स्वाभाविकता और इसकी विशिष्टता का उल्लेख करते हुए विनीता अग्रवाल ने लिखा है––

> '' 'अर्द्धकथा' हिन्दी की आदि आत्मकथा है जिसने चौंकाने की हद तक आद्यन्त अपना सीधा संबंध सहज और प्राकृतिक मनुष्य से रखा है जो सत्य है, चिरन्तन है। सत्य को पाने की आशा पाठकों को आद्यन्त कृति में कौतूहलता से भरती रहती है। 'अर्द्धकथा' जैसी जीवन के सही घात–प्रतिघातों से भरी क्रम–क्रमबद्ध आत्मकथा आज भी हिन्दी आत्मकथाओं के संदर्भ में ही नहीं, वरन् आत्मकथा की विधा के ही संदर्भ में एक चुनौती है।''[22]

1641 के दो सौ साल से भी अधिक लम्बे अन्तराल के बाद हिन्दी की दूसरी आत्मकथा आती है। आर्यसमाज के स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित 'आत्मचरित' का प्रकाशन सन् 1860 ई0 में होता है। इसके साथ ही सन् 1861 में सीताराम सूबेदार की आत्मकथा 'सिपाही से सूबेदार' का प्रकाशन होता है। इसके लगभग पन्द्रह वर्ष तक फिर किसी आत्मकथा का प्रकाशन नहीं होता। इसके बाद सन् 1876 की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित एक लेख प्रकाशित होता है– 'एक कहानी : कुछ आप बीती कुछ जग बीती'। इस छोटे से लेख में आधुनिक आत्मकथा के गुण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। भारतेन्दु मण्डल के ही राधाचरण गोस्वामी (जीवन–चरित्र) तथा प्रतापनारायण मिश्र (जीवन वृत्तान्त) की आत्मकथाएँ भी लगभग इसी समय प्रकाशित होती हैं।

---

22. विनीता अग्रवाल, हिन्दी आत्मकथाएँ : सिद्धान्त एवं स्वरुप विश्लेषण, पृष्ठ 33–34,

भारतेन्दु युग के पश्चात तो हिन्दी में लगातार आत्मकथाएँ प्रकाशित होती रहीं, जिनमें अम्बिकादत्त व्यास की आत्मकथा 'निजवृत्तान्त' (1901), सत्यानन्द अग्निहोत्री की 'मुझमें देवजीवन का विकास' (1910), भाई परमानन्द की 'आपबीती' (मेरी रामकहानी)(1922), स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती की 'कल्याण मार्ग का पथिक' (1924), श्रीधर पाठक की 'स्वजीवनी' (1926), रामप्रसाद बिस्मिल की 'आत्मकथा' (1927), लाला लाजपत राय की आत्मकथा (1932) आदि प्रमुख हैं।

सन् 1932 में ही मुंशी प्रेमचंद 'हंस' पत्रिका का आत्मकथा अंक (जनवरी–फरवरी 1932) प्रकाशित कर चुके थे जिसमें जयशंकर प्रसाद, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, धीरेन्द्र वर्मा, गोपालराम गहमरी, सन्तराम, दिनेशनन्दिनी, जैनेन्द्र कुमार, श्रीराम शर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, लक्ष्मीधर वाजपेयी, शिवरानी देवी, राधेश्याम कथावाचक, सुदर्शन, मुंशी प्रेमचंद आदि ने कविता, डायरी, संस्मरण आदि विविध स्वतन्त्र विधाओं में अपनी संक्षिप्त आत्मकथात्मक अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत की थीं।[23] स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में आत्मकथा विधा के प्रति साहित्यकारों का आकर्षण बढ़ने लगा था। 1946 में राहुल सांकृत्यायन के बाद कई महत्वपूर्ण आत्मकथाएँ लिखी गईं जिनकी सूची विनीता अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी आत्मकथाएँ : सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण'[24] में दी हैं। इनमें गुलाब राय की 'मेरी असफलताएँ' (1940), श्यामसुन्दरदास की 'मेरी आत्मकहानी' (1941), हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर या अहिंसा के अनुभव' (1949), राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन–यात्रा' (भाग–1) (1946), 'मेरी जीवन–यात्रा' (भाग–2) (1950), 'मेरी जीवन–यात्रा' (भाग–3,4,5) (1967), राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' (1947), वियोगी हरि की 'मेरा जीवन–प्रवाह' (1948), यशपाल की 'सिंहावलोकन' (भाग–1) (1951), 'सिंहावलोकन' (भाग–2) (1952), 'सिंहावलोकन (भाग–3) (1955), जैनेन्द्र कुमार की 'अपनी बात' (1952), शान्तिप्रिय द्विवेदी की 'प्ररिव्राजक की प्रजा' (1952), देवेन्द्र सत्यार्थी की 'चाँद सूरज के बीरन' (1953), जानकी देवी बजाज की 'मेरी जीवन–यात्रा' (1956), आचार्य नरेन्द्र देव की 'मेरे संस्मरण' (1956) आदि प्रमुख हैं। 'अवंतिका' पत्रिका के जुलाई से दिसम्बर 1956 तक के अंकों में 'कलाकार का आत्मसंस्मरण' शीर्षक से रामनरेश त्रिपाठी, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द एवं रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के लेखों की आत्मकथात्मकता भी दृष्टव्य है। राधेश्याम कथावाचक की 'मेरा नाटक–काल' (1950), सेठ गोविन्द दास की

23. हंस (आत्मकथा अंक), संपादक : प्रेमचंद
24. विनीता अग्रवाल, हिन्दी आत्मकथाएँ: सिद्धान्त एवं स्वरुप विश्लेषण,पृष्ठ : 24–27

'आत्म–निरीक्षण'(पहला भाग)–प्रयत्न, 'आत्म–निरीक्षण(दूसरा भाग)–प्रत्याशा, 'आत्म–निरीक्षण' (तीसरा भाग)–नियताप्ति(1958), डॉ0 देवराज की 'बचपन के दो दिन' (1959), 'यौवन के द्वार पर' (1970), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'मेरी अपनी कथा' (1959), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' (1960), शिवपूजन सहाय की 'मेरा बचपन' (1960), सुमित्रानन्दन पंत की 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' (1960), आचार्य चतुरसेन की 'मेरी आत्म कहानी' (1963), आबिद अली की 'मजदूर से मिनिस्टर' (1968), हरिवंशराय बच्चन की 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1977), 'दशद्वार से सोपान तक'(1985), वृंदावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी (1971), मोरारजी देसाई की 'मेरा जीवन वृत्तान्त' (भाग–1) (1972), 'मेरा जीवन वृत्तान्त (भाग–2) (1974), मोहन प्रकाश की 'आत्मकथा' (1973), पृथ्वीराज कपूर की 'कुछ यादें' (1974), बलराज साहनी की 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' (1974) आदि महत्वपूर्ण हैं। इनमें से कुछ पुस्तकाकार हैं तो कुछ संस्मरणात्मक लेख मात्र।

इसके अतिरिक्त बलराज मधोक की 'जिदंगी का सफर' (1986), डॉ0 नगेन्द्र की 'अर्द्धकथा' (1988), फणीश्वरनाथ रेणु की 'आत्म परिचय' (भारत यायावर द्वारा संपादित) (1988), कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की 'तपती पगडंडियों पर पदयात्रा' (1989), रामदास मिश्र की 'समय सहचर है' (1990), गोपाल प्रसाद व्यास की 'कहो व्यास, कैसी कहीं?' (1995), डॉ0 रामविलास शर्मा की 'अपनी धरती अपने लोग' (1996), भगवती चरण वर्मा की 'कहि न जाये का कहिए', 'स्मृति शेष देवेश का दस्तावेज' (2004), नरेश मेहता की 'हम अनिकेतन' (1995), कमलेश्वर की 'जो मैने दिया'; 'यादों के चिराग' (1977), 'जलती हुई नदी' (1999), वीरेन्द्र सक्सेना की 'क्रम और व्युत्क्रम' (1998), राजेन्द्र यादव की 'मुड़–मुड़ के देखता हूँ' (2001), अखिलेश की 'और वह जो यथार्थ था' (2001), भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (2003), स्वेदेश दीपक की 'मैंने माडू नहीं देखा' (2003), विष्णु प्रभाकर की 'पंखहीन'; 'मुक्त गगन में' 'पंछी उड़ गया' (2004), अशोक वाजपेयी की 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज'(2003) आदि आत्मकथाएँ महत्वपूर्ण हैं।

हिन्दी आत्मकथा साहित्य में स्त्री आत्मकथाएँ भी उल्लेख्य और महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी में स्त्रियों की पहली आत्मकथा जानकी देवी बजाज की 'मेरी जीवन यात्रा' (1956) है जो वास्तव में बोलकर लिखवाई गई है, क्योंकि वे स्वयं निरक्षर थीं। इसके अतिरिक्त कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' (1996) तथा 'और...और...औरत' (2010), पद्मा सचदेव की

'बूँद–बावड़ी' (1999), मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसै' (2002), 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (2008), प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' (2007), मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' (2007), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना' (2008), शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कहीं कुछ अनकही', रमणिका गुप्ता की 'हादसे' तथा 'आपहुदरी' (2016) आदि महत्वपूर्ण आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं। स्त्रियों की आत्मकथाओं ने आत्मकथा विधा को अधिक समृद्ध और लोकप्रिय बनाया है।

साहित्य की लगभग सभी महत्वपूर्ण विद्याओं में दलित साहित्य रचा जा रहा है, लेकिन आत्मकथा इसके केन्द्र में है। चूँकि दलित साहित्य संवेदना के पैमाने पर अनुभूति की प्रामाणिकता को केन्द्रीय महत्व देता है तथा आत्मकथा किसी रचनाकार की सबसे प्रामाणिक अभिव्यक्ति होती है, अतः दलित साहित्य के केन्द्र में आत्मकथा का विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक है।

दलित आत्मकथाएँ वे रचनाएँ हैं जो दलितों द्वारा अपने जीवन–वृत्त को केन्द्र में रखकर लिखी गई हैं। इनमें जाति के कारण लेखक द्वारा भोगे गए भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार तथा इनके विरुद्ध किये गए संघर्ष का वर्णन मिलता है। अतः स्वाभाविक है कि यदि किसी दलित रचनाकार की आत्मकथा में जाति–उत्पीड़न, दलित–चेतना, इनके विरुद्ध संघर्ष आदि नहीं है तो उसे दलित आत्मकथा नहीं कहा जा सकता।

दलित आत्मकथाएँ हिन्दी की दलितेतर आत्मकथाओं से अलग तथा विशिष्ट हैं। एक साहित्यिक विधा के वैशिष्ट्य सम्बन्धी बिन्दुओं के अलावा 'आत्मकथा' तथा 'दलित आत्मकथा' में कोई समानता प्रतीत नहीं होती। 'आत्मकथा' को हिन्दी में वह विधागत पहचान व सम्मान नहीं मिला जो अन्य साहित्यिक विधाओं को शुरू से मिला, जबकि 'दलित आत्मकथा' शुरू से ही 'दलित साहित्य' की सबसे सशक्त और महत्वपूर्ण विधा मानी जाती रही है। तो इस स्तर पर भी 'आत्मकथा' तथा 'दलित आत्मकथा' में पर्याप्त अंतर देखने को मिलता है।

आत्मकथा और दलित आत्मकथा के नामों का अंतर जितना स्थूल प्रतीत होता है, उतना है नहीं। इसे 'आत्मकथा' और 'दलित आत्मकथा' के बीच व्यापक अंतर के आधार पर समझा जा सकता है। 'आत्मकथा' के बारे में सामान्य धारणा यह है कि इसका लेखक

कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हो सकता, वह अपने जीवन और उपलब्धियों के आधार पर विशिष्ट व्यक्ति होना चाहिए। इस संदर्भ में डॉ0 बैजनाथ सिंहल लिखते हैं––

> ''आत्मकथा या जीवनी के नायक का कोई बड़ा व्यक्ति होना आवश्यक है। सामान्य व्यक्ति इन विधाओं के विषय नहीं हो सकते।''[25]

यहाँ दो बातों पर बल दिया गया है––कौन आत्मकथा का नायक हो सकता है तथा कौन नहीं हो सकता। दोनों ही पक्ष अत्यंत स्थूल हैं। इतनी दृढ़ता के साथ कैसे निश्चित किया जा सकता है कि कोई बड़ा व्यक्ति ही आत्मकथा का नायक हो ! महाकाव्य की ही तरह यहाँ भी कोई 'उच्चकुलीन' ही नायक हो सकता है, वही आत्मकथा लिख सकता है। साधारण पृष्ठभूमि का, निम्नकुलीन, अप्रतिष्ठित व्यक्ति आत्मकथा नहीं लिख सकता। आखिर यह 'बड़ा व्यक्ति' कौन है! यह विधि–निषेध वर्चस्वंवादी संस्कृति की सनातन प्रवृत्ति है जिसके वशीभूत हो डॉ0 बैजनाथ सिंहल यह लिख रहे हैं। इसी बात को कुछ विनम्र ढंग से प्रो0 माजदा असद लिखती हैं––

> ''आत्मकथाएँ प्रायः वही लोग लिखते हैं जो किसी–न–किसी क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करते हैं।''[26]

डॉ0 बैजनाथ सिंहल और प्रो0 माजदा असद, दोनों एक ही बात की ओर संकेत करते हैं, लेकिन दोनों का मंतव्य अलग–अलग है। डॉ0 बैजनाथ सिंहल जहाँ पूरी कट्टरता से आत्मकथाकार के सम्बन्ध में विधि–निषेध का निर्णय सुनाते हैं, वहीं प्रो0 माजदा असद केवल वस्तुस्थिति की ओर संकेत करती हैं। इनका कथन परंपरागत 'आत्मकथा' विधा पर पूरी तरह लागू होता है। दलित आत्मकथाओं को छोड़ कर अब तक की सारी आत्मकथाओं के लेखक ऐसे ही लोग रहे हैं जिसका संकेत वह करती हैं। लेकिन दलित साहित्य की दृष्टि में उपर्युक्त दोनों मन्तव्य अपर्याप्त तथा एकांगी हैं। सामान्यतः जिस अर्थ में किसी व्यक्ति को बड़ा माना जाता है, कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः दलित आत्मकथाओं का नायक कोई बड़ा व्यक्ति नहीं होता। दलित सामाजिक दृष्टि से सबसे निचले पायदान का प्राणी है जो अस्पृश्य है, बहिष्कृत है। आर्थिक दृष्टि से उसकी स्थिति अकाल प्रभावित सामान्य मनुष्य से भी बदतर है। धर्म में भी वह त्याज्य है। ऐसा 'आत्मकथाकार' हर दृष्टि

---

25. डॉ0 बैजनाथ सिंहल, हिन्दी विधाएँ : स्वरूपतामक अध्ययन, पृष्ठ : 185

26. प्रो0 माजदा असद, गद्य की नई विधाओं का विकास, पृष्ठ : 57

से दीन–हीन है। लेकिन दलित आत्मकथाकारों ने स्वयं को नायकत्व प्रदान कर यह सिद्ध कर दिया है कि सामान्य–से–सामान्य व्यक्ति भी आत्मकथा लिख सकता है। पाठक वर्ग ने भी ऐसे नायकों को व्यापक स्वीकृति दी है।

एक धारणा यह भी है कि व्यक्ति अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर ही आत्मकथा लेखन की ओर अग्रसर होता है ताकि जीवन भर की उपलब्धियों का लेखा–जोखा प्रस्तुत कर उस पर गर्व कर सके। प्रो0 माजदा असद लिखती हैं––

> ''आधिकांशतः व्यक्ति प्रौढ़ होने पर आत्मकथा लिखता है। इस अवस्था में पहुँचकर वह अपने पूरे जीवन का प्रारंभ से चलचित्र की भाँति आत्मनिरीक्षण करता है।''[27]

इसका आशय तो यह हुआ कि आत्मकथाकार पहले से ही योजना बनाकर प्रतीक्षा करता रहता है कि कब वह सफल, परिपक्व और बूढ़ा हो, फिर आत्मकथा लिखे ! यह जीवन का विश्लेषण नहीं बल्कि जीवन भर की उपलब्धियों का लेखा–जोखा प्रस्तुत कर आत्मतोष प्राप्त करने का माध्यम है। यहाँ मुख्य मुद्दा आत्मानुभवों का विश्लेषण कर पाठकों से उसकी साझेदारी करना नहीं, बल्कि अनुभवों का, जीवन की सफलताओं का विवरण प्रस्तुत कर पाठक समुदाय से उनके औचित्य की स्वीकृति प्राप्त करना है। दलित आत्मकथाकारों के सन्दर्भ में यह बात एकदम उलट है। अधिकांश दलित लेखकों ने अपनी आत्मकथा युवावस्था में ही लिखी है। यहाँ उपलब्धियाँ लगभग शून्य होती हैं और जीवन के कटु अनुभव अत्यंत समृद्ध। इनका उद्देश्य अपनी उपलब्धियों का बखान करना नहीं, बल्कि जीवन के कटु और संघर्षपूर्ण अनुभवों को जल्दी–से–जल्दी समाज के अधिकांश लोगों तक पहुँचाना है ताकि लोग अपने समय–समाज की सबसे क्रूरतम विकृति 'जाति व्यवस्था' को समझ सकें और उसे दूर करने का प्रयास करें। तो दलित आत्मकथाकार का मूल उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन है, मात्र जीवन का लेखा–जोखा प्रस्तुत करना नहीं।

दलितेतर आत्मकथाओं में प्रायः सामाजिक मुद्दे गौण होते हैं और आत्मकथाकार व्यक्ति केन्द्र में। परोक्ष रूप से समाज चाहे जितना आ जाए, लेकिन प्रत्यक्षतः तो आत्मकथाकार का व्यक्तित्व ही पूरी आत्मकथा में हावी रहता है। वह अपने अनुभवों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास तो करता है, लेकिन पूरी आत्मकथा व्यक्ति–केन्द्रित ही रहती है। तेज सिंह इस पर चर्चा करते हुए लिखते हैं–

---

27. वही, पृष्ठ : 57

''आत्मकथा में लेखक का लक्ष्य अपने आपको प्रतिष्ठित करना होता है। आत्मकथा का लेखक (व्यक्ति) खुद होता है जो जीवनानुभवों द्वारा अर्जित 'वैयक्तिक' अनुभूतियों को सामाजिक संबंधों में देखने की कोशिश तो जरूर करता है पर भारत की विशेष सामाजिक परिस्थितियों के कारण व्यक्ति–केंद्रित होकर सोचने लगता है। इसलिए व्यक्ति लेखक की आत्मकथा समाज–केन्द्रित न होकर व्यक्ति–केंद्रित हो जाती है क्योंकि उसमें व्यक्ति–विशेष को समाज में स्थापित करने की कोशिश की जाती है।''[28]

दलित आत्मकथाओं में स्थिति ठीक इसके उलट होती है। यहाँ भी लेखक व्यक्ति ही होता है, लेकिन उसका उद्देश्य आत्म प्रतिष्ठा कतई नहीं होता। वास्तव में वह आत्मकथा के माध्यम से, अपनी अस्मिता की खोज के माध्यम से पूरे दलित समाज को प्रतिष्ठित करना चाहता है। वहाँ न व्यक्तित्व का लोप होता है, न समाज हाशिए पर जाता है, बल्कि दोनों परस्पर आश्रित होते हैं। व्यक्ति–केंद्रिकता की बजाय समाज–केंद्रिकता दलित आत्मकथाओं की ऐसी मूल विशेषता है जो इन्हें पूरी तरह से दलितेतर आत्मकथाओं से अलग कर देती है। इन आत्मकथाओं में व्यक्तिगत लड़ाई के माध्यम से दलित आत्मकथाकार पूरे दलित समाज की लड़ाई लड़ रहा होता है जिसके सामने विपक्षी के रूप में पूरा सवर्ण समाज खड़ा होता है। दलितेतर आत्मकथाओं में अनुभूति की संवेदना जहाँ केवल व्यक्ति (आत्मकथाकार) तक सीमित होती है, वहीं दलित आत्मकथाओं में यह संवेदना पूरे समाज तक विस्तार पाती है। परंपरागत आत्मकथाकार के सामने कोई सांस्कृतिक समस्या भी नही होती, जबकि दलित आत्मकथाकार जिस तरह अपने पूरे दलित समाज की लड़ाई लड़ता है, उसी तरह पूरे समुदाय की सांस्कृतिक पहचान की भी लड़ाई लड़ता है। तेज सिंह लिखते हैं–

''आत्मवृत्त व्यक्ति–केंद्रित न होकर समाज–केंद्रित होते हैं। यही वजह है कि आत्मवृत्त का लेखक व्यक्ति–चिंतन से सामाजिक–चिंतन की ओर अग्रसर होता है। यानी व्यक्ति जीवन से सामाजिक जीवन की ओर उन्मुख होता है। इस तरह व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव बनकर अभिव्यक्ति पाते हैं जो अंततः प्रामाणिक अनुभूति में तब्दील हो जाते हैं इसलिए आत्मवृत्तों में अनुभूति की प्रामाणिकता ही नहीं रहती बल्कि अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता भी मौजूद रहती है जिसे अंबेडकरवादी साहित्य में

---

28. तेज सिंह, अपेक्षा, जुलाई–दिसंबर 2010; पृष्ठ : 11

अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता के नाम से जाना जाता है।''[29]

परंपरागत आत्मकथाओं के ताने–बाने के केन्द में एक व्यक्ति (आत्मकथाकार) का जीवन होता है, इसकी व्यक्तिगत समस्याएँ होती हैं, लेकिन दलित आत्मकथा में व्यक्ति के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर की तमाम विडंबनात्मक सामाजिक विषमताओं,भेद–भावों को बहस का मुद्दा बनाया जाता है। सभी दलितों की आत्मकथाओं में यह संयोगवशात एकरूपता मिलती है, जबकि दलितेतर आत्मकथाओं में यह एकरूपता नहीं मिलती। यह विशेषता दलित आत्मकथाओं को एक राष्ट्रव्यापी मुद्दे और आंदोलन से जोड़ती है।

आलोचकों का प्रायः यही आरोप होता है कि सारी दलित आत्मकथाओं में जब एक जैसी घटनाएँ हैं, लगभग एक ही ढर्रे पर सबकी कथा चल रही है, तो फिर बार–बार आत्मकथाएँ लिखने की जरूरत क्या है ? क्यों सारे लेखक आत्मकथा ही लिख रहे हैं ? दरअसल अखिल भारतीय स्तर पर थोड़े–बहुत अन्तर को छोड़कर सभी दलितों की स्थिति लगभग एक सी है। ऐसे में उनकी आत्मकथाओं में एकरूपता आना स्वाभाविक है। रही बात इस एकरूपता के बावजूद एक के बाद एक दलित आत्मकथा का लगातार लिखा जाना, तो यह होना भी महत्वपूर्ण है, यही होना चाहिए, भले ही लोगों को उनमें अब और एकरसता दिखाई दे। आखिर कोई भी आंदोलन कैसे बनता है ? उसकी कुछ घोषणाएँ होती हैं; कुछ मुद्दे होते हैं; उन्हें अभिव्यक्त करने के तरीके होते हैं। जब तक इन घोषणाओं, मुद्दों और अभिव्यक्तियों को एकरूपता में समेटकर बार–बार नहीं दोहराया जाएगा, उसका प्रभाव कैसे पड़ेगा ? क्या हिन्दी साहित्य के भक्ति आंदोलन में ऐसी एकरूपता और बारंबारता नहीं मिलती ? तब क्या कई समकालीन भक्त कवि लगभग एक ही ढर्रे पर, एक–रूपता से आक्रांत कविताएँ नहीं लिख रहे थे ? फिर दलित साहित्य पर एकरूपता का यह आरोप क्यों ? यह दलित साहित्य का सकारात्मक और सशक्त पक्ष है कि इसमें केवल हिन्दी पट्टी के स्तर तक नहीं, बल्कि अखिल भारतीय स्तर तक व्यापक एकरूपता है। यही दलित साहित्य आन्दोलन की शक्ति है। भारतीय जनमानस पढ़े और समझे कि हिन्दी का दलित साहित्यकार या मराठी का दलित साहित्यकार या तेलुगु का या गुजराती का दलित साहित्यकार झूठ नहीं लिख रहा है। ये लोग जो लिख रहे हैं, जिस सामाजिक विद्रूपता से मुक्ति का संघर्ष साहित्य के माध्यम से कर रहे हैं, वह अखिल भारतीय स्तर

---

29. वही, पृष्ठ :12

पर सदियों से भारतीय समाज में व्याप्त है। यही दलित आन्दोलन की, दलित साहित्य की सार्थकता और शक्ति है। अतः, यही दलित आत्मकथाओं की भी सार्थकता और शक्ति है।

3. दलित आत्मकथा की विचारधारात्मक पृष्ठभूमि

विविधता प्रकृति की विशेषता है। विविधता के ही आधार पर संसार भर की वस्तुएँ, जीव–जन्तु, पशु–पक्षी, पेड़–पौधे विभिन्न वर्गों में विभाजित हैं। इसी प्रकार मनुष्य की विभिन्न प्रजातियाँ भी अपनी विशेषताओं के आधार पर विभाजित हैं। यह सारे विभाजन या वर्गीकरण इनकी भौतिक या प्राकृतिक विशेषता के आधार पर किये गये हैं। इसका अपवाद केवल हिन्दू समाज है, जिसका विभाजन कुछ काल्पनिक आधारों पर किया गया है। सामान्य जन के मन–मस्तिष्क, संस्कृति तथा समाज में इन काल्पनिक आधारों ने अपनी इतनी मजबूत स्थिति बनाई है कि हजारों साल से लेकर आज तक इन्हें इनकी जगह से टरकाया नहीं जा सका है। इन्हीं आधारों के परिणामस्वरूप भारत में वर्ण–व्यवस्था का उद्‌भव और कालांतर में हजारों जातियों का विकास हुआ।

आर्यों के भारत आगमन के बाद से ही भारतीय समाज में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था लागू हो गई––ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। इस व्यवस्था का मूल आधार बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर 'ऋग्वेद' के दसवें मण्डल के उन्नीसवें मंत्र (जिसे पुरुष सूक्त भी कहते हैं) को मानते हैं–

ब्राहमणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्य कृतः।

उरू तदस्य यद् वैश्य पद्‌भ्यां शूद्रो अजायत।।[30]

(ऋग्वेद, 10, 90, 12)

अर्थात, ब्राहमण उसके (ब्रहमा के) मुख, राजन्य उसकी भुजाओं, वैश्य उसकी जंघाओं तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए।

इस प्रकार उत्पत्ति स्थल, ब्रह्मा के विभिन्न अंगों की श्रेष्ठता के आधार पर इनका वर्णक्रम निर्धारित हुआ–ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। कालांतर में वर्णक्रम के ही आधार पर

---

30. बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्‌मय, खण्ड–13, (शूद्र कौन थे), पृष्ठ : 1–2

समाज में इनके कार्यों का विभाजन भी हुआ। मनुस्मृति के अनुसार–

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामन सूयया।।[31]

(अर्थात्, ईश्वर ने शूद्र के लिए एक ही कर्म का आदेश किया है, यह इन उपर्युक्त तीनों वर्णों (ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य) की ईर्ष्यारहित होकर सेवा करे।)

शास्त्रों द्वारा निर्धारित–संचालित भारतीय समाज में मनुष्य की यह अवस्थिति शत प्रतिशत लागू हुई। आजादी के 69 साल बाद और भारतीय संविधान लागू होने के 66 साल बाद आज भी इस स्थिति में अपेक्षित परिवर्तन नहीं आया है। शास्त्रों–धर्मग्रन्थों का आधार बनाकर अस्पृश्य जातियों पर तमाम सामाजिक–आर्थिक निषेधाज्ञाएँ लादी गईं जिससे उनका जीवन पशुओं से भी बदतर हो गया। मनुस्मृति के अनुसार शूद्र को धन–संचय का अधिकार नहीं। यदि वह धन–संचय करता भी है तो ब्राहमण बलात् उससे छीन सकता है। यहँ तक कि नामकरण में भी वर्ण के अनुसार भेद–भाव का उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है। ब्राहमणों की श्रेष्ठता और शूद्रों के प्रति उनकी दुर्भावना के ऐसे अनेक प्रमाण 'मनुस्मृति' में विद्यमान हैं। बल्कि सामान्य धारणा यह है कि सर्वप्रथम मनु ने ही इनका विधान किया और तभी से ये नियम कठोरतापूर्वक लागू किये जाने लगे।

इसी कारण बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने 25 दिसम्बर सन् 1927 को 'मनुस्मृति' का सार्वजनिक दहन किया। भारतीय समाज में व्याप्त ऐसे तमाम विधि–निषेधों का उल्लेख वे अपनी रचनाओं में करते हैं जो यहाँ के अस्पृश्यों पर कठोरता से लागू किये जाते थे। अपनी पुस्तक में उन्होंने 'मनुस्मृति' के ऐसे कुछ उदाहरण भी दिये हैं––

> ''अस्पृश्य को चाहिए कि वह हीन व्यक्तियों के स्तर के अनुरूप दिखे और उसे प्रत्यक्ष रूप में हीनता दर्शाने वाले ऐसे नाम आदि धारण करने चाहिए, जिनसे लोग उसे तदनुरूप पहचान सकें, जो इस प्रकार हैं–

(क) हीनता–सूचक नाम रखना।

(ख) स्वच्छ वस्त्र न पहनना।

(ग) बिना खपरैल वाले घर में रहना।

---

31. मनुस्मृति, टीकाकार : पं0 जनार्दन झा, अध्याय–1, श्लोक : 91, पृष्ठ : 18

(घ) चाँदी–सोने के जेवर न पहनना।

इनमें से किसी भी नियम का उल्लघंन करना अपराध है।''[32]

सामान्यतः समाज के विभिन्न समुदायों के विकास के लिये नियम बनाये जाते हैं, लेकिन भारत की यह ब्राहमणवादी संस्कृति एक समुदाय विशेष का विकास न होने देने के लिए नियम बनाती है। इसी प्रवृत्ति ने पूरी भारतीय संस्कृति का पतन किया है, जबकि इसी पर कट्टरपंथी भारतीय अहंकार करते हैं। आदिम काल से आज तक की हजारों साल की मानव सभ्यता ने अद्भूत विकास किया है, विश्व–संस्कृति की कई, रीतियाँ आमूल रूप से समाप्त हुईं और नई परिपाटियाँ बनीं, लेकिन भारत के सन्दर्भ में विकास कम जड़ता अधिक रही है। भारत में वर्णाश्रम और जातिवाद जैसी आदिम व्यवस्थाओं का वैश्विक सन्दर्भों में मूल्यांकन करते हुए बाबा साहब डॉ0. भीमराव अम्बेडकर लिखते हैं–

> ''आज दुनिया का कोई अन्य सभ्य देश ऐसा नहीं है, जो आदिम मान्यताओं से लिपटा हो, इस देश का धर्म आदिम है और इसके आदिम संकेत इस आधुनिक काल में भी पूरे जोर–शोर से इस पर हावी हैं।''[33]

धार्मिक और शास्त्रीय कट्टरता के तर्क से लागू यह जाति व्यवस्था आज भी ज्यों–की–त्यों बनी हुई है। तमाम संवैधानिक प्रावधानों, तथाकथित सामाजिक जागरूकता, राजनीतिक प्रयासों के बावजूद यह आज भी उतनी ही खतरनाक है जितनी कि हो सकती है। बल्कि कई मायनों में यह पहले से भी ज्यादा खतरनाक है। कुछ छिट–पुट दलित नेताओं–अधिकारियों की समृद्ध आर्थिक स्थिति का सामान्यीकरण करके पूरे दलित समाज को समृद्ध और सशक्त बताना उनकी दुर्दशा पर व्यंग्य ही है। वैसे भी आर्थिक समृद्धि सामाजिक सशक्तीकरण का पैमाना कभी नहीं हो सकता। किसी भी राजनीतिक हैसियत और आर्थिक स्तर का दलित हो, वह प्रथमतः और अंततः दलित ही होता है।

शोषण की शुरूआत के साथ ही उसके विरोध की चेतना भी शोषित में आ जाती है, भले ही उसकी अभिव्यक्ति देर से हो, परोक्ष रूप से हो या प्रत्यक्ष रूप से। वर्ण–व्यवस्था का भी विरोध उसके प्रारम्भ के साथ ही हो गया था। हिन्दू धर्म आधारित षट्दर्शन के समानान्तर लोकायत (चार्वाक) दर्शन तथा बौद्ध दर्शन इसके उदाहरण हैं। विरोध की यह

---

32. बाबा साहेब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण बाड्.मय, खण्ड–9, पृष्ठ : 44

33. बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड–1, पृष्ठ : 21

परम्परा अबाध गति से चलती रही, भले ही वर्चस्वशाली वर्ण ने उसे लोकप्रिय नहीं होने दिया। कालांतर में हिन्दी भाषा के विकास के समानान्तर ही वर्णव्यवस्था विरोधी चेतना भी विकसित होती रही। कँवल भारती मानते हैं कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही दलित चेतना की अभिव्यक्ति होने लगी थी। सिद्ध नाथ कवियों में से अधिकांश को वे दलित चेतना से सम्पन्न मानते हैं। उनकी वर्णव्यवस्था, छुआ–छूत, कर्मकाण्ड विरोधी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं–

> ''सिद्ध और नाथों की परम्परा बुद्ध की परम्परा है। वर्णव्यवस्था के विरोध और सामाजिक परिवर्तन की जो क्रान्ति बुद्ध ने की थी, सिद्ध कवि उसी क्रान्ति के वाहक थे। XXX सिद्धों में 37 सिद्ध शूद्र वर्ण की पृष्ठभूमि से थे। उनकी कविता दोहा छन्द में है। इन्होंने ऊँच–नीच, छुआछूत और धार्मिक अंधविश्वास का खंडन किया है। यह दलित चेतना तो थी, पर सीमित दलित चेतना थी। इसने उन मूल्यों को विकसित किया था, जिस पर दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र निर्मित हुआ।''[34]

सिद्धों व नाथों में जो सामाजिक दृष्टि व चेतना थी, उसे दावे के साथ दलित चेतना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'दलित' और 'दलित चेतना' दोनों ही आधुनिक शब्द और अवधारणाएँ हैं। हाँ, यह अवश्य है कि दलित चेतना के लिए उन्होंने मजबूत पृष्ठभूमि भारतीय समाज में ज़रूर तैयार की, जहाँ ब्राह्मणवाद का पूरी तरह वर्चस्व था। अस्पृश्यता और ब्राह्मणवाद तथा तमाम तरह के सामाजिक भेद–भावों और समाज में व्याप्त ब्राह्मणवादी वर्चस्ववाद का विरोध करने के कारण अधिकांश अस्पृश्य जातियाँ बुद्ध की अनुयायी हो गई थीं। कालांतर में बौद्ध धर्म को संरक्षण देने वाले मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद ब्राह्मणों के वर्चस्व व आतंक के कारण वे स्वच्छन्द रूप से अपने मत का प्रचार–प्रसार नहीं कर पा रहे थे। लेकिन सिद्धों व नाथों के आविर्भाव ने उन्हें नया संबल दिया। संभवतः यही कारण है कि उनके अधिकांश अनुयायी अस्पृश्य जातियों के ही लोग थे। आज भी नाथों–सिद्धों की विचाराधारा का प्रचार–प्रसार अधिकांशतः अस्पृश्य जातियों (दलितों) में ही मिलता है।

सिद्धों–नाथों द्वारा अस्पृश्यता, ब्राह्मणवादी वर्चस्व, वर्णव्यवस्था आदि सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध उपलब्ध कराये गए क्षीण किंतु मजबूत आधार समाज में, विशेषतः

---

34. कँवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा पृष्ठ : 40

दलितों में और अधिक प्रचारित–प्रसारित करने तथा और अधिक मजबूती प्रदान करने का कार्य किया हिन्दी साहित्य की मध्यकालीन सन्त परम्परा ने। इन सन्तों को भी कँवल भारती बुद्ध तथा नाथों–सिद्धों की परम्परा से जोड़ते हैं। वे लिखते हैं–

> ''वास्तव में मध्यकाल के ये दलित सन्तकवि उन बौद्ध भिक्षुओं की सन्तान् या शिष्य परम्परा में थे, जो पुष्यमित्र के समय बौद्ध भिक्षुओं के कत्लेआम से भयभीत होकर सुरक्षा कारणों से दलित बस्तियों में जाकर गृहस्थ रूप में रहने लगे थे। **xxx** लेकिन दलित बनकर जीवन की जिस पीड़ा से उन्हें गुजरना पड़ा, वह उनके लिए कटु अनुभव था। उन्होंने एक ऐसे जीवन को भोगा था, जो नरक से भी भयानक था। उसके सामने कठोर से कठोर यातनाएँ भी हल्की थीं। दलित जीवन की इन अनुभूतियों ने उन बौद्ध दलित जनों को क्रांतिकारी कवि बना दिया और वे दलित चेतना के प्रखर प्रवक्ता बन गए। इन दलित कवियों में कबीर, रैदास, पीपा, दादू, चोखामेला इत्यादि प्रमुख थे।''[35]

कँवल भारती कबीर, रैदास, पीपा, दादू, चोखामेला आदि मध्यकालीन हिन्दी संत कवियों को दलित चेतना का प्रखर प्रवक्ता भले कहें, लेकिन यह भी सत्य है कि इन भक्त कवियों ने ईश्वर भक्ति को ही अपने जीवन और फलतः कविता के केन्द्र में रखा। प्रो0 तुलसीराम लिखते हैं–

> ''इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि बाद में अनेक दलित संत कवि हुए, किंतु उन सभी ने ब्राह्मणवाद को ही मजबूत करने में अपनी भूमिका अदा की। नन्दनार, चोखामेला तथा रविदास आदि को इन्हीं संत कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। **xxx** चोखामेला की स्थापना थी कि इस जन्म में वह दलित इसलिए हुए थे, क्योंकि पिछले जन्म में उन्होंने खराब कर्म किया था। इन दलित संत कवियों में कबीर ही एक ऐसे थे, जिन्होंने वैदिक या ब्राह्मणी व्यवस्था पर खुला प्रहार किया। छठीं शताब्दी से लेकर 16वीं शताब्दी तक अनेक दलित कवि हुए किंतु हैरत की बात है कि इनमें से किसी ने बुद्ध से कोई प्रेरणा नहीं ली।''[36]

यह सच है कि कबीर–रैदास के साथ ही अन्य दलित कवियों में अपेक्षित दलित–चेतना

---

35. वही, पृष्ठः 42

36. तुलसीराम, चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, सं0–डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ0 देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ : 65

नहीं मिलती, लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में इनकी रचनाओं पर विचार करें तो निश्चय ही उनका योगदान महत्वपूर्ण है। प्रो0 तुलसीराम का उपर्युक्त कथन तथ्याधारित है, लेकिन इससे कबीर और रैदास का महत्व कम नहीं मान लेना चाहिए। बल्कि कँवल भारती जोर देकर यह साबित करते हैं कि कबीर, रैदास आदि भक्ति के नहीं, क्रांति के कवि थे। वे यह भी कहते हैं कि ईश्वरवाद को उन्होंने ब्राह्मणी सत्ता के आतंक से बचने के लिए अपनाया था–

> ''कबीर और रैदास वे पहले कवि हैं, जिन्होंने हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम प्रगतिवाद की स्थापना की थी। वे दलित चेतना के भी पहले और सच्चे संवाहक हैं। वे भक्ति के नहीं क्रांति के कवि थे। उन्होंने निराकार, निर्विकार, अनाम और असाम्प्रदायिक ईश्वर के द्वारा दलितों को असाम्प्रदायिक भक्ति से जोड़कर वर्णव्यवस्था को चुनौती दी थी और उन्हें साम्प्रदायिक ईश्वर के मायाजाल तथा मन्दिरों के अंधविश्वासों से मुक्ति दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। वे मुस्लिम और ब्राह्मणी सत्ता के आतंक से बचने के लिए ईश्वरवादी हुए थे। क्योंकि यदि वे ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करते, तो असानी से उन्हें काफिर समझा जाता और वे मार दिये जा सकते थे। इसलिए उन्होंने ईश्वर का खण्डन तो नहीं किया, पर एक ऐसे ईश्वर को स्वीकार किया जो निगुर्ण था और जो बुद्ध के अनीश्वरवाद से काफी मेल खाता है।''[37]

कई बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि कँवल भारती ने कुछ तर्क अपने पक्ष में प्रयुक्त किये हैं। कबीर ने ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन भले ही न किया हो लेकिन धर्म के बारे में उन्होंने मुल्लों–पंडितों को जिस भाषा में लताड़ा है उसे कोई भी कट्टर बर्दाश्त नहीं करेगा। इसके बावजूद कबीर ने अपनी बातें अपने ढंग से कहीं। उन्हें प्रताड़ित चाहे जितना किया गया हो, लेकिन वे जीवित रहे 120 साल तक। इसलिए कँवल भारती का यह तर्क बहुत मजबूत नहीं माना जाएगा कि तत्कालीन शासकों या समाज की कट्टर साम्प्रदायिक ताकतों के डर से कबीर–रैदास आदि निर्गुण संत कवियों ने भक्ति और ईश्वर का दामन थामा था। उन्होंने जो किया या लिखा, वही उनका मूल स्वभाव प्रतीत होता है। यह भी सही नहीं लगता कि इन संत कवियों का निगुर्णवाद बुद्ध के अनीश्वरवाद से मेल खाता है। बहुत स्पष्ट है कि ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दोनों परस्पर विपरीत ध्रुव हैं, फिर

---

37. कँवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, पृष्ठ : 43

ईश्वरवादी विचार और निरीश्वरवादी विचार में मेल की सम्भावना ही नहीं बनती, चाहे वह सगुण ईश्वरवाद हो या निगुर्ण ईश्वरवाद। इस संदर्भ में प्रो0 तुलसीराम की बात सही प्रतीत होती है कि इन संत कवियों ने बुद्ध से तनिक भी प्रेरणा नहीं ली।

नाथों–सिद्धों के बाद से लेकर संत काव्य तक का समय काफी लम्बा है। इतने लम्बे समय की सामाजिक दृष्टि में व्यापक फेर–बदल की उम्मीद की जाती है, विशेषतः समाज के सबसे वंचित तबके में, जबकि फेर–बदल की पहल नाथ–सिद्ध कवि कई शताब्दियों पहले कर चुके थे। लेकिन यह परिवर्तन सबसे सशक्त रूप में एकमात्र संत कवि कबीर में ही देखने को मिलता है। यह निराशाजनक तो नहीं, किंतु आशातीत भी नहीं कहा जा सकता। अपने काल की प्रवृत्तियों के प्रभाव में आकर शेष अधिकांश संत कवियों की चेतना के केन्द्र में भक्ति ही रही। 'ईश्वर की दृष्टि में सब बराबर हैं' जैसी धारणाओं के प्रभाव में आकर ये सब ईश्वर के शरणागत हुए। वर्णव्यवस्था के स्पष्ट विरोध की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई देती है। खैर, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि दलित सशक्तीकरण की दृष्टि से हिन्दी के निर्गुण संत कवियों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। उन्होंने नाथों–सिद्धों की परम्परा से प्रेरणा लेते हुए वर्णव्यवस्था–विरोधी उनकी विचारधारा को और सशक्त रूप प्रदान करते हुए आगे बढ़ाया।

भक्तिकाल के बाद हिन्दी कविता अलौकिक स्तर से उतरकर रीतिकाल में अपेक्षाकृत मानवीय स्तर पर आई। भले ही रीतिकालीन कवियों की कविता श्रृंगार–वर्णन को अश्लीलता के स्तर तक गिरा देती है, लेकिन ईश्वरीय अलौकिकता से मुक्त करके मानवीय और लौकिक जीवन की कविता का विषय बनाने का महत्वपूर्ण काम इन्हीं कवियों ने किया। रीतिकाल की ही रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों ने श्रृंगार और प्रेम के नए प्रतिमान गढ़े– यह सब न वीरगाथा काल की हिन्दी कविता में हो सका था, न भक्तिकाल की कविता में। किंतु सामाजिक चेतना की जो परम्परा निर्गुण संत कवियों ने प्रारम्भ की थी, वह रीतिकाल में एकदम विलुप्त हो जाती है––विशेष रूप से वर्णव्यवस्था से संबंधित चेतना। इसके उद्भव का संकेत 20वीं शताब्दी के अछूतानन्द, हीरा डोम आदि की ही रचनाओं में मिल पाता है। नाथों–सिद्धों की सामाजिक चेतना इस परंपरा के निर्गुण संत कवियों तक पहुँचने में भी लम्बे समय का अन्तराल मिलता है, लेकिन उन निर्गुण संत कवियों के लगभग 400 साल बाद यह सामाजिक चेतना हिन्दी दलित कवियों में देखने को मिलती है। इस लम्बे समयान्तराल में वर्ण–व्यवस्था के विरुद्ध समाज में चेतना न रही हो और उस चेतना की

साहित्यिक अभिव्यक्ति न हुई हो, यह अविश्वसनीय प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में डॉ0 भवदेव पाण्डेय लिखते हैं–

> ''ऐसा नहीं कहा जा सकता कि संत–परंपरा का दलित काव्य प्रवाह एकाएक अवरुद्ध हो गया हो। दलित काव्य की चेतना आगे भी रचनात्मक संघर्ष अवश्य करती रही होगी, परंतु समाज के जातिगत ऊर्ध्व ढांचों और सामंतवादी परिस्थितियों द्वारा इसे हाशिये पर फेंकने के लिए विवश कर दिया गया। जिस समाज में कुआँ और तालाब पर अछूतों का प्रवेश वर्जित रहा हो, वहाँ कविता के दरबार में दलित कवियों का प्रवेश कैसे संभव हो सकता था ?''[38]

ब्राह्मणवाद के विरुद्ध सामाजिक चेतना और उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति में इतने लम्बे समयान्तराल पर कँवल भारती भी आश्चर्य व्यक्त करते हैं और साथ ही उस अन्तराल में विलुप्त हुई संत काव्यधारा की ब्राह्मणवाद–विरोधी परंपरा की खोज का दायित्व दलित अध्येताओं को सौंपते हुए स्वामी अछूतानन्द को पहला दलित कवि मानते हैं जिनका जन्म सन् 1876 में उ0प्र0 के फर्रुखाबाद जिले के सौरिख नाम के गाँव में हुआ था। संत,समाज सुधारक, कवि, नाटककार, पत्रकार स्वामी अछूतानन्द की कविताओं की पहली पुस्तक सन् 1912 में छपी थी। वे 'हरिहर' तथा 'अछूत' उपनाम से कविताएँ लिखते थे। उनकी लिखी यह कव्वाली बहुत प्रसिद्ध है–

> ''निशदिन मनुस्मृति ये, हमको जला रही है.
> ऊपर न उठने देती, नीचे गिरा रही है..
> ब्राहमण व क्षत्रियों को सबको बनाया अफसर.
> हमको 'पुराने उतरन पहनो' बता रही है..
> दौलत कभी न जोडें, गर हो तो छीन लें वह.
> फिर 'नीच' कह हमारा, दिल भी दुखा रही है..
> कुत्ते व बिल्ली मक्खी, से भी बना के नीचा.
> हा शोक! ग्राम बाहर हमको बसा रही है..
> हमको बिना मजूरी, बैलों के संग जोतें.

---

38. भवदेव पांडेय, चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, सं0: डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ0 देवेन्द्र चौबे, पृष्ठः 65

गाली व मार उस पर, हमको दिला रही है..

लेते बेगार, खाना तक पेट भर न देते.

बच्चे तड़पते भूखों, क्या जुल्म ढा रही है..

ऐ हिंदू कौम ! सुन ले, तेरा भला न होगा.

हम बेकसों को 'हरिहर' गर तू रुला रही है..''[39]

स्वामी अछूतानन्द की कविता में 'मनुस्मृति' के उन श्लोकों की आलोचना की गई है जिनमें शूद्रों के शोषण–अत्याचार का विधान किया गया है तो 'सरस्वती' के सितम्बर 1914 के अंक में छपी हीरा डोम की कविता ईश्वर (राम–कृष्ण) की उन गाथाओं का उल्लेख करती है जिसमें वे अपने भक्तों की रक्षा करते बताए गए हैं। अछूतों की वर्तमान दशा और उन पर सवर्णों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का उल्लेख करते हुए यह कविता ईश्वर को ललकारती हुई उस पर व्यंग्य करती है कि आखिर वह 'कहाँ सो गया है जो हमारी पुकार नहीं सुन रहा ? क्या इन सवर्णों की तरह वह भी हमें डोम जानकर छूने से डर रहा है !'

कँवल भारती ने स्वामी अछूतानन्द से प्रेरित–प्रभावित बहुत से दलित कवियों का उल्लेख अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य की अवधारणा' में किया है जो उनके समकालीन या उनके शिष्य थे। इनमें पं॰ बख्शीदास, बंशीराम मुसाफिर, स्वामी शंकरानन्द, केवलानन्द, अयोध्यानाथ दण्डी, मोजीलाल मौर्य, बिहारी लाल 'हरित', मोतीलाल संत आदि प्रमुख हैं।

सन् 1928 में डॉ0 अम्बेडकर द्वारा किये गए महाड़ आन्दोलन के बाद दलितों के बारे में जो साहित्यिक चेतना आई उसे कँवल भारती आधुनिक काल या मुक्ति काल नाम देते हैं तथा इसे तीन धाराओं में विभाजित करते है– 1. आर्य समाजी 2. गांधीवादी 3. आम्बेडकरवादी। आर्यसमाजी धारा के कवि हिन्दू धर्म में सुधार के लिए छुआछूत, अंधविश्वास, मूर्तिपूजा आदि के विरुद्ध समाज को जागरूक करने का प्रयास करते थे। बाद में यही लोग डॉ0 आम्बेडकर के समर्थक हो गए और इनमें से बिहारी लाल 'हरित', बुद्ध संघ 'प्रेमी,' बदलू राम 'रसिक', प्रेमचंद आर्य, मंगल देव विशारद आदि लोक कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए।

हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली धारा 'गाँधीवाद' रही जिसके

39. स्वामी अछूतानन्द, हंस (अगस्त, 2004), सत्ता–विमर्श और दलित, सम्पादक : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ : 188–189

प्रमुख रचनाकार मैथिलीशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, मुंशी प्रेमचंद आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं में रचनारत थे। इनकी रचनाओं में दलितों के प्रति दया भाव ही अधिक मिलता है। दलित जातियों के भी कुछ साहित्यिकार गाँधीवादी धारा से प्रभावित थे। इन्हीं में से एक माता प्रसाद 'मित्र' 'मितई' उपनाम से गीत, कजरी, कविता आदि लिखते थे।

कँवल भारती आम्बेडकरवादी धारा को दो भागों में बाँटते हैं––1. 1950 से 1975 तक 2. 1975 से आगे। चन्द्रिका प्रसाद 'जिज्ञासु' द्वारा 'बाबा साहेब का जीवन संघर्ष' लिखकर प्रकाशित करने तथा डॉ0 आम्बेडकर की कुछ रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित करवाने से हिन्दी भाषी क्षेत्र में बाबा साहेब के विचारों का प्रचार–प्रसार खूब हुआ जिससे प्रभावित होकर अनेक लोग दलित कवि और लेखक हो गए। डॉ0 अंगने लाल, मोतीराम शास्त्री, मंगलदेव विशारद, रामस्वरूप, सुन्दरलाल सागर, गजाधर प्रसाद, गया प्रसाद प्रशान्त, नन्दकिशोर, माता प्रसाद, बदलू राम 'रसिक', नत्थू सिंह पथिक, गुरु प्रसाद मदन, अनेग सिंह दास, मनोहरलाल तथा स्वयं को कँवल भारती 'जिज्ञास् युग' की उपलब्धि मानते हैं।

सन् 1975 के आस–पास से विकसित हुई दलित काव्य की धारा को दलित चेतना की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण मानते हुए कँवल भारती लिखते हैं––

> ''एक पृथक धारा के रूप में हिन्दी दलित साहित्य इसी युग में अस्तित्व में आया, बल्कि उसे परिभाषित भी इसी काल में किया गया। यह धारा समग्र रूप से आम्बेडकर–दर्शन से विकसित हुई, और यह दर्शन ही उसका मूलाधार है। आम्बेडकर–दर्शन में दलित–मुक्ति की अवधारणा की अभिव्यंजना ही वर्तमान हिन्दी दलित साहित्य की प्रतिबद्धता है। इसने नये सौंदर्य शास्त्र की स्थापना की, जो स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व के सिद्धांतों पर आधारित है। इसने अपने सौन्दर्य शास्त्र से हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन किया और उसे काफी हद तक दलितों के लिए अप्रासंगिक साबित किया। इसने प्रेमचंद और निराला तक का पुनर्मूल्यांकन किया और उनकी कई रचनात्मक स्थापनाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाये।''[40]

---

40. कँवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, पृष्ठ : 54

लगभग इसी समय से दलित साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न अवधारणाओं पर विचार–विमर्श शुरू हो गया था, जिनका व्यवस्थित विकास बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में होता है। महाराष्ट्र में दलित आन्दोलन तथा मराठी में दलित चेतना का विकास हो चुका था जिसका व्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी दिखाई देने लगा था। महात्मा गाँधी द्वारा अस्पृश्यों को दी गई संज्ञा 'हरिजन' की बजाय 'दलित' शब्द के प्रति स्वीकार्यता बढने लगी थी। ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' में 'दलित' शब्द का अर्थ बताते हुए लिखा गया है–

'' 'दलित' का शाब्दिक अर्थ है 'रौंदा, कुचला, दबाया हुआ, पदाक्रांत।''[41]

इसी तरह दलित समुदाय के संदर्भ में लिखा गया है––

'' 'दलित वर्ग' का अर्थ है 'हिंदुओं में वे शूद्र जिन्हें अन्य जातियों के समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं।''[42]

उपर्युक्त शब्दकोश में पहले 'दलित' शब्द का सामान्य शाब्दिक अर्थ स्पष्ट किया गया है, फिर भारतीय समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में दलित वर्ग का आशय स्पष्ट किया गया है। पहले उद्धरण के अनुसार तो कोई भी शोषित–पीडित व्यक्ति दलित कहा जा सकता है, लेकिन दूसरे उद्धरण में जाति विशेष की ओर संकेत किया गया है। हालाँकि 'दलित' शब्द का अर्थ फिर भी भ्रामक बना हुआ है। इसी शाब्दिक अर्थ की ओर ओमप्रकाश वाल्मीकि का भी संकेत है–

'' 'दलित' शब्द का अर्थ है––जिसका दलन और दमन हुआ है; दबाया गया है; उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट, मर्दित, पस्त–हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।''[43]

ओम प्रकाश वाल्मीकि द्वारा दिये गए 'दलित' शब्द के ये अर्थ भी शब्दकोशीय ही प्रतीत हो रहे हैं जो केवल शाब्दिक अर्थ बताते हैं। इनसे भी 'दलित' शब्द का सामान्य अर्थ ही ज्ञात होता है जिसका सम्बन्ध किसी भी ऐसे व्यक्ति, समुदाय या समाज से हो सकता है जो शोषित–पीडित है। डॉ0 रामचन्द्र 'दलित' शब्द को व्यापक सामाजिक

---

41. बृहत् हिन्दी कोश सं0 : कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, पृष्ठः 510
42. वही, पृष्ठः 510
43. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र,पृष्ठ :13

अर्थ–सन्दर्भों में ग्रहण करते हुए लिखते हैं––

> ''दलित शब्द सिर्फ किसी विशेष जाति–उपजाति से संबद्ध न होकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति हेतु फुले अम्बेडकरवादी एवं अन्य परिवर्तनकामी विचारधारात्मक वर्गों के संघर्ष का प्रतीक है। भारत की सामाजिक–धार्मिक सांस्कृतिक व्यवस्था की संरचना में उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित और अधिकारों से वंचित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला दलित शब्द सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा का पर्याय बन चुका है। यह शब्द हिंदू व्यवस्था के अन्याय और शोषण के प्रत्युत्तर का विकल्प है।''[44]

उपर्युक्त उद्धरण में दलित शब्द के सामाजिक–सांस्कृतिक सन्दर्भ को लेते हुए इसका आशय स्पष्ट करने का प्रयास तो है, लेकिन बात अस्पष्ट ही रह गई है। 'दलित क्या है' तक तो बात स्पष्ट है, लेकिन 'दलित कौन है' का स्पष्ट उत्तर यहाँ भी नहीं। कँवल भारती दलित विमर्श के सन्दर्भ में 'दलित' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं––

> ''वास्तव में दलित वही व्यक्ति हो सकता है, जो सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से दीन–हीन है। इससे भिन्न अर्थों में 'दलित' शब्द को लेना 'दलित' शब्द का ही विकृतिकरण करना है। जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया, जिसे कठोर और गन्दे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और सिर्फ वही दलित है।''[45]

कँवल भारती के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि 'दलित' का शाब्दिक अर्थ चाहे जितना व्यापक हो, सामाजिक सन्दर्भों में उसका अर्थ समाज का एक समुदाय विशेष है। कँवल भारती ने जिन बिंदुओं का उल्लेख किया है, उनसे स्पष्ट होता है कि वर्तमान भारत की अस्पृश्य (अनुसूचित) जातियाँ ही वास्तव में 'दलित' हैं। अस्पृश्यों पर ही तमाम सामाजिक–सांस्कृतिक नियम लागू किये गए ताकि उनका विकास अवरुद्ध हो जाए, ताकि वे सामान्य मनुष्य जैसा जीवन न जी सकें।

जितना विवाद 'दलित' की अवधारणा पर है उससे अधिक विवाद 'दलित साहित्य' की

---

44. डॉ0 रामचन्द्र, हाशिये का वृतांत, संपादक : डॉ0 दीपक कुमार, डॉ0 देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ : 286

45. कँवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, पृष्ठ : 15

अवधारणा पर रहा है। अधिकांश दलित विद्वान दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए दलित चेतना से युक्त साहित्य को 'दलित साहित्य' मानते हैं; इसके विपरीत अधिकांश गैर–दलित विद्धानों का मत है कि दलितेतर साहित्यकार भी 'दलित साहित्य' लिख सकते हैं। दोनों तरह के आलोचक विद्वान अपने–अपने तर्क और प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। शरण कुमार लिंबाले लिखते हैं––

> ''दलित साहित्य अर्थात् दलित लेखकों द्वारा दलित चेतना से युक्त दलितों के विषय में किया गया लेखन।''[46]

शरण कुमार लिंबाले के उपर्युक्त कथन में तीन महत्वपूर्ण बिंदु हैं– पहला, दलितों द्वारा लिखा गया; दूसरा, दलितों के विषय में लिखा गया तथा तीसरा, दलित–चेतना से युक्त साहित्य 'दलित साहित्य' है। इसे दलित साहित्य के एक आदर्श पैमाने के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उपर्युक्त तीनों बिन्दुओं में से यदि एक को भी कम कर दिया जाय तो दलित साहित्य की अवधारणा अपूर्ण रह जाएगी। कँवल भारती इसी बात को और विस्तार से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं––

> ''दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उन्हीं के द्वारा उसी की अभिव्यक्ति का साहित्य है।''[47]

दलितेतर विद्वानों ने दलित साहित्य को पहले तो स्वीकार ही नहीं किया, वे लगातार इसकी उपेक्षा करते रहे, लेकिन इसकी व्यापक लोकप्रियता के कारण उन्हें इसके अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ा। इन विद्वानों द्वारा भी दलित साहित्य को परिभाषित करने का प्रयास किया गया लेकिन वह पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं हो सका। जान–बूझकर या अनजाने में ही दलितों के प्रति उनकी असहिष्णु भावना उजागर हो जाती है। 'दलित साहित्य' को परिभाषित करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं––

> ''इसकी परिभाषा करना चाहें तो कहा जा सकता है कि दलित साहित्य वह है जो दलितों के द्वारा लिखा गया है, दलितों के बारे में और दलितों के लिए लिखा गया हो। जैसे कि लोकतन्त्र की परिभाषा दी जाती है 'आफ द पीपुल, बाई द पीपुल,

---

46. शरण कुमार लिंबाले, दलित सहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृष्ठ : 31

47. कँवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, पृष्ठ : 15

फॉर द पीपुल' इसी तरह दलितों के द्वारा, दलितों के बारे में, दलितों के लिए जो साहित्य रचा जा रहा है और जो केवल अम्बेडकरवाद से प्रभावित है, उसमें न गांधी की मिलावट है, न मार्क्सवाद की––वह है दलित साहित्य।''[48]

अब्राहम लिंकन द्वारा की गई लोकतन्त्र की परिभाषा के तुक पर नामवर सिंह द्वारा दलित साहित्य को परिभाषित करने का यह प्रयास वास्तव में दलित साहित्य का उपहास है। पूर्व उल्लिखित शरण कुमार लिंबाले द्वारा की गई दलित साहित्य की परिभाषा के तीन बिंदुओं के सन्दर्भ में नामवर सिंह की इस परिभाषा पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि इन्होंने केवल तुक बन्दी की है, विचार नहीं किया। शरण कुमार लिंबाले जिस 'दलित चेतना' की बात करते हैं, इस परिभाषा में वह उस ज़रूरी बिन्दु का स्थानापन्न 'दलितों के लिए' रखा गया है। कोई भी कला–रचना किसी समुदाय विशेष के लिए या उन्हें ध्यान में रखकर नहीं की जाती, बल्कि उसका उपभोक्ता सामान्य मनुष्य होता है। जिस समुदाय की संवेदना उस कला में अभिव्यक्त होती है, उससे इतर समुदाय के लिए भी वह समान रूप से महत्वपूर्ण होती है। लेकिन यहाँ नामवर सिंह दलित साहित्य को 'दलितों के लिए' रचा गया मान रहे हैं। यह साहित्य के साथ–साथ समाज को भी बाँटने का प्रयास है। दलित साहित्य तो उस सम्पूर्ण जन–मानस के लिए है जो भारतीय समाज में व्याप्त जाति–व्यवस्था से परिचित होना चाहता है, जो इससे मुक्त होना चाहता है तथा जो इससे मुक्ति में बाधक है। नामवर सिंह का यह पूर्वग्रहग्रस्त दृष्टिकोण तब उजागर होता है जब वे आगे लिखते हैं––

''जन्मना दलित ही दलित चेतना का प्रतिनिधि होगा, दूसरा कोई नहीं, यह गलत है।''[49]

दलित साहित्यकार गैर दलितों द्वारा दलित विषयों पर लेखन का विरोध नहीं करते, बल्कि वे ऐसे लेखन में उस ईमानदारी और प्रामाणिकता की माँग करते हैं जो हिन्दी साहित्य में पहले कभी नहीं रही, तथा जिसके बावजूद कुछ दलितेतर रचनाकारों के साहित्य को दलित रचना घोषित करने का निराधार प्रयास किया जाता है। इसके विपरीत सवर्ण आलोचक दलित साहित्य और साहित्यकारों पर ऐसे निराधार आरोप लगाते रहे हैं जिन्हें जानकर हिन्दी भाषा–साहित्य का सामान्य पाठक भी हास्यास्पद ही कहेगा। ऐसा

---

48. नामवर सिंह, दलित लेखन के अन्तविरोध, संपादक : डॉ0 रामकली सर्राफ, पृष्ठ : 15

49. वही, पृष्ठ : 19

ही आरोप लगाते हुए प्रो0 कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं––

> ''दलित साहित्य का जातिवादी दर्शन समस्त भारतीय रचनाकारों के जातिवाद–विरोधी दर्शन से अलग है––न केवल अलग है, बल्कि विपरीत दिशा में पूँछ उठाकर भागता है, यह चिन्ता का विषय है।''[50]

उपलब्ध प्रमाणों और तर्कों के विपरीत, दलित साहित्य को जातिवादी घोषित करना, उसे बदनाम करने का प्रयास है।

'जातिवाद विरोधी दर्शन' को ढोने वाले वे 'समस्त भारतीय रचनाकार' कौन हैं ? उनके होते हुए भारतीय समाज में जातिवाद का जहर कैसे फैल गया ! कृष्णदत्त पालीवाल जी अकेले ऐसे आलोचक नहीं हैं जो यह कुतर्क कर रहे हैं। पूरी भारतीय ब्राह्मणवादी संस्कृति की यही मूल प्रवृत्ति है। जो अपराध वे स्वयं करते हैं, उसका आरोप दूसरे पर मढ़कर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का हास्यास्पद् उपक्रम करते हैं; यह भी नहीं सोचते कि तर्कों और प्रमाणों से क्या सिद्ध हो रहा है।

मात्र दो–तीन दशकों की अपनी यात्रा में दलित साहित्य ने जितने व्यापक मानवीय सरोकारों को अपने भीतर समेटा है, उसका चौथाई भी एक हजार साल के सवर्ण हिन्दी साहित्य में नहीं मिलेगा। दलित साहित्य का दायरा संकीर्ण नहीं, व्यापक है, विविधतापूर्ण है, भारतीय जनमानस की गहराई से जुड़ा है। इसके व्यापक मानवीय सरोकारों की ओर संकेत करते हुए कँवल भारती लिखते हैं––

> ''दलित विमर्श सिर्फ एक जाति का विमर्श नहीं है। दलित विमर्श के केंद्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका संबंध भेदभाव से है, चाहे यह भेदभाव जाति के आधार पर हो, रंग के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार पर हो या फिर धर्म के ही आधार पर क्यों न हो।''[51]

दलित विमर्श पर जातिवादी होने का आरोप केवल इसलिए लगाया जाता है कि यह जाति आधारित शोषण का विरोध करता है। यह विचित्र संस्कृति हमारे हिन्दू समाज की ही है कि जिस जाति के नाम पर शोषण और अन्याय–अत्याचार किया जाता है, उसी जाति के नाम पर अगर उनका विरोध किया जाय तो विरोध करने वाला जातिवादी मान लिया

---

50. कृष्णदत्त पालीवाल, दलित साहित्य : बुनियादी सरोकार, पृष्ठ : 68
51. कँवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ : 17

जाता है, शोषण करने वाला उदारवादी। यही सांस्कृतिक परिपाटी हिन्दी साहित्य में भी चल पड़ी है। दलित साहित्य का केन्द्रीय विषय जातिवाद का विरोध तो है ही, साथ ही यह हर तरह के भेद–भाव के विरुद्ध लड़ता है। ऐसा साहित्य जातिवादी कैसे हो सकता है ! व्यापक सामाजिक सन्दर्भों और उद्देश्यों से दलित साहित्य के जुड़ाव को रेखांकित करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं––

> ''दलित लेखन केवल दलितों के अधिकार एवं मूल्यों तक सीमित नहीं है बल्कि सामाजिक सन्दर्भों के साथ जुड़कर समूचे समाज की अस्मिता और मूल्यों की पहचान बनता है। दलित साहित्यकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ रचनाकर्म मे जुड़कर साहित्य की सृजनात्मकता में मानवीय सरोकारों, संवेदनाओं और स्वतंत्रता, भाई–चारे की भावनाओं को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति और उसकी पीड़ा, उसके सुख–दुख महत्वपूर्ण हैं। उसमें दलित हो या स्त्री, उसके प्रति रागात्मक तादाम्य स्थापित करना दलित साहित्य का प्रमुख प्रयोजन है। दलित चिन्तन ने नया आयाम देकर साहित्य की भावना का विस्तार किया है। पारम्परिक और स्थापित साहित्य को आत्मविश्लेषण और पुनर्विश्लेषण के लिए बाध्य किया है। झूठी और अतार्किक मान्यताओं का निर्ममता से विरोध किया है।''[52]

ओम प्रकाश वाल्मीकि का उपर्युक्त कथन साहित्य में निहित 'हित' की उस भावना की ओर संकेत करता है जो वास्तव में उसका अभीष्ट है, जो उसका व्यापक सरोकार है। मानव–समाज का कोई भी हिस्सा इन सरोकारों से इतर नहीं। ऐसे व्यापक दृष्टिाकोण वाला साहित्य पूरे भारतीय साहित्य में अब तक नहीं रचा गया होगा जिसका अभीष्ट सम्पूर्ण मानवता का हित हो। निश्चय ही उन रूढ़ साहित्यिक मान्यताओं के विश्लेषण और परिवर्तन–परिवर्द्धन का अवसर आ चुका है, जिसका पालन अब तक का भारतीय साहित्य करता आ रहा है। यह अवसर उपलब्ध कराया है दलित साहित्य ने।

साहित्य का एक व्यापक और सूत्रबद्ध दृष्टिकोण निर्धारित किया जा सकता है––नवीन एवं तार्किक दृष्टिकोण। शेष बातें यहीं से निकलकर विकसित होती हैं। रचनाकार स्वयं को, अन्य को, परिवेश में व्याप्त वस्तुओं एवं परिघटनाओं को परम्परा से इतर नई दृष्टि से देखता है, देखने की इस प्रक्रिया में ही वह उनका मूल्यांकन करता है और उनके विषय

52. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ : 25–26

में निर्णय लेता है कि उन्हें बनाये–बचाये रखना चाहिए, उन्हें समाप्त कर देना चाहिए, उनमें संशोधन–परिवर्द्धन करना चाहिए, उनका पूरक' निर्मित करना चाहिए अथवा उनका स्थानापन्न। यह निर्णय स्पष्ट रूप से स्वयं रचनाकार द्वारा भी लिया जा सकता है और पाठक द्वारा निर्णय लिये जाने की संभावना का निर्माण भी किया जा सकता है। किंतु जब दृष्टिकोण ही संकीर्ण हो जाय, रूढ़ि नवीनता का स्थानापन्न हो जाय, उसे ही नवीनता घोषित किया जाये तो अवधारणा में आमूल परिवर्तन अनिवार्य है। इसी प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप तथा साहित्य की 'हित' सम्बन्धी अवधारणा के लगातार विफल होते जाने के कारण ही 'दलित साहित्य' का उद्‌भव हुआ। इस समय कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक इतिहास, जीवनी, आत्मकथा, आलोचना आदि विभिन्न विधाओं में उत्कृष्ट दलित साहित्य रचा जा रहा है।

4. हिन्दी की दलित आत्मकथाएँ

आत्मकथा दलित साहित्य की सबसे लोकप्रिय, महत्वपूर्ण और सशक्त विधा है। आत्मानुभव, यथार्थ और आदर्श को अन्य साहित्यिक विधाओं (कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक आदि) में अभिव्यक्त करना जितना प्रभावशाली है उससे कहीं ज़्यादा सरल। आत्मकथा अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक तथा सपाट होने के बावजूद अभिव्यक्ति में अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। दलित आत्मकथाओं को संपूर्णता के साथ यथार्थ रूप में व्यक्त करने की क्षमता के कारण आत्मकथा दलित साहित्य की केन्द्रीय विधा के रूप में उभरी।

प्रसिद्ध दलित चिंतक–साहित्यकार भगवानदास की पुस्तक 'मैं भंगी हूँ' आत्मकथा शैली में लिखी जाने के कारण हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा के रूप में चर्चित है। हालांकि इसे आत्मकथा मानने–न मानने को लेकर विद्वानों में आज भी मतभेद है। स्वयं भगवानदास भी बाद में इसे आत्मकथा मानने से इनकार करते हैं। यह पुस्तक 1981 में प्रकाशित हुई थी। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत निम्नलिखित दलित आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं– मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) (1995), 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–2) (2000), ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (भाग–1) (1997), 'जूठन' (भाग–2) (2014), कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' (1999), के0नाथ की 'तिरस्कार' (1999),

'जाति अपराध' (2005), डी0आर0 जाटव की 'मेरा सफर, मेरी मंजिल' (2000), माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन' (2002), सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (2002), 'संतप्त' (2006), नवेन्दु महर्षि की 'इंसान से ईश्वर तक' (2006), 'मेरे मन की बाइबिल' (2007), रमाशंकर आर्य की 'घुटन' (2007), रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी' (2007), श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'(2009), डॉ0 धर्मवीर की 'मेरी पत्नी और भेड़िया' (2009), तुलसीराम की 'मुर्दहिया' (2009), 'मणिकर्णिका' (2014), सुशीला टाकभौरे की 'शिंकजे का दर्द' (2011) ।

अपने–अपने पिंजरे (भाग–1)

हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा के रूप में मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' के पहले भाग का प्रकाशन वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से सन् 1995 में हुआ। 1857 की क्रांति में ऐतिहासिक भूमिका निभाने वाले तथा साहित्य, राजनीति फिल्म आदि क्षेत्रों के कई महत्वपूर्ण लोगों की जन्मस्थली मेरठ की एक दलित बस्ती में लेखक का जन्म हुआ। जन्म के कुछ ही साल बाद माँ की मृत्यु हो गई; पिता ने दूसरी शादी कर ली और ताऊ ने लेखक को गोद ले लिया।

आत्मकथा के प्रारम्भ में ही मोहनदास नैमिशराय मेरठ शहर और अपनी बस्ती के भौतिक परिवेश और सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक–राजनैतिक संरचना का परिचय देते हैं। शहर की बस्ती, गेट, गली, पुलिया––सबका नाम वहाँ बसी हुई जातियों के आधार पर है। इनमें चमारों की बस्ती सबसे उपेक्षित और दुर्दशाग्रस्त है। सवर्णों की ही तरह मुसलमानों का भी दलितों पर वर्चस्व है। मुसलमान और हिन्दू स्त्रियों की दुर्दशा कमोबेश एक–सी है। ताऊ के आँगन में नीम का एक पेड़ है, जिसके इर्द–गिर्द हिंदू–मुसलमान दोनों का सह अस्तित्व है, लेकिन मेरठ दंगे में एक मुसलमान के मारे जाने के बाद तनाव बढ़ जाता है और दोनों समुदाय परस्पर विरोधी हो जाते हैं।

सात साल की उम्र में 'चमारों के स्कूल' से मोहनदास की पढ़ाई शुरू होती है। बहनें भी पढ़ रही हैं, इसलिए बस्ती के लोगों को जलन है, मगर माँ–बाप तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद सबकी पढाई जारी रखते हैं।

पहली बार लेखक ने बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर का नाम तब सुना जब 6 दिसम्बर 1956 को उनका परिनिर्वाण हो गया। उस दिन बस्ती में सन्नाटा छाया रहा, बच्चों को खेलने नहीं दिया गया, घरों में चूल्हे नहीं जले। उन्हीं दिनों ताऊ ने नगरपालिका के सदस्य का चुनाव जीता, मगर फिर भी तथाकथित नवाबों की नजर में उनका सम्मान नहीं बढ़ा, क्योंकि आखिरकार वे एक मोची थे, चमार थे। लेखक ने अपने बड़े भाई जानकी प्रसाद की भी चर्चा की है, जिनके नपुंसक होने के कारण पाँच साल इंतज़ार करने के बाद भाभी रमेश्वरी के पिता ने उसका ब्याह दूसरे से कर दिया। भाभी पूरे परिवार का बहुत ख़्याल रखती थी, लेखक के प्रति उसका विशेष स्नेह था।

किशोरावस्था में कई लड़कियों के प्रति लेखक का आकर्षण रहा; बिरजो, सुभद्रा, मंगो और रसवंती। रसवंती को वह अपना पहला और अंतिम प्रेम मानता है। एक–एक कर इन सबका विवाह होता गया और लेखक अकेला रह गया।

रसवंती की शादी, आर्थिक संकट और फिल्मों के प्रति आकर्षण ने लेखक को बंबई बुला लिया। लेखक ने बंबई की झुग्गी बस्तियों की दुर्दशा और लोगों की जिजीविषा का वर्णन विस्तार से किया है। वहाँ शराब दुकानदार की बेटी सूजी का लेखक के प्रति प्रेम तब व्यक्त होता है जब लेखक वापस मेरठ लौटने वाला है। सूजी शराब पिलाने के काम से छुटकारा चाहती है, मगर लेखक वापस अपने पिंजरे में लौटने के लिए मजबूर है और वह अपने पिंजरे में बने रहने के लिए।

अपने–अपने पिंजरे (भाग–2)

यह मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा का दूसरा भाग है जिसका प्रकाशन सन् 2000 में वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ। आत्मकथा की शुरुआत वहाँ से होती है जब लेखक मुंबई से वापस मेरठ आता है। रसवंती की शादी हो चुकी है जिसके कारण उसमें शारीरिक– मानसिक बदलाव भी आने लगे हैं। वह जितना ही खिलखिलाती है, लेखक उतना ही कुढ़ता है।

अधिकांश चमार बौद्ध हो गए थे, मगर सवर्णों की दृष्टि में वे अब भी 'चमार–चमारी–चमट्टा' ही थे। उनसे जबरन सेवा करवाई जाती थी। दलित औरतों के

साथ यौन अत्याचार होते थे और बदनामी भी उन्हीं की होती थी। कॉलेज के कर्मचारी वजीफे की सूची देखकर जाति जान लेते थे और गालियाँ देते थे, कहीं भी आने–जाने पर लोग सबसे पहले जाति ही पूछते थे। इन्हीं परिस्थितियों के बीच दलित आंदोलन की शुरुआत हो रही थी। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया के भूमि आंदोलन, नक्सलवाद, शिवसेना, दलित पैंथर आदि के उभार का यही समय था। हिंदू धर्म और समाज–व्यवस्था के पाखंडों के प्रति विद्रोह–भावना लेखक में जन्म लेने लगी थी। होमगार्ड शिविर में एक ब्राह्मण रसोइये द्वारा दुर्व्यवहार किये जाने पर लेखक ने विद्रोह कर दिया और उसे वहाँ से हटवा दिया।

उच्च शिक्षा के लिए लेखक दिल्ली रहने लगा। वहाँ भी दलित बस्तियों की दुर्दशा और जातिवाद के संकट से सामना हुआ। भंगियों के प्रति अन्य दलित जातियाँ भी छुआछूत का व्यवहार करती थीं। दलित राजनेता भी अपने स्वार्थ के लिए जातिवाद को बनाए रखना चाहते हैं। बी0ए0 करने के बाद 1971 में लेखक ने साप्ताहिक अखबार 'समताशक्ति' का प्रकाशन प्रारम्भ किया, लेकिन चंदे के अभाव में उसे बन्द करना पड़ा। दिल्ली के ही एम्प्लॉयमेंट एक्सचेंज में नौकरी के दौरान एक प्रतिभागी लड़की के प्रति लेखक का आकर्षण बढ़ने लगा, लेकिन फलित न हो सका।

नौकरी के दौरान ही शादी हो गई। ससुर ने फैक्टरी खोली तो लेखक की भी नौकरी छुड़ाकर उसी में लगा दिया, मगर बाद में फैक्टरी बंद होने पर गंभीर आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ा। इस बीच एक चिट फंड कंपनी में नौकरी करने लगे, मगर वह भी फर्जी निकली, फिर एक सेठ के जूनियर हाई स्कूल में अध्यापन करने के बाद एक इण्टर कॉलेज में अध्यापन। कांशीराम और मायावती से भेंट होने पर बामसेफ के प्रति आकर्षण के कारण एक बार फिर नौकरी छोड़ दी और आर्थिक संकटों से जूझना पड़ा। आर्थिक तंगी से परेशान पत्नी मायके रहने लगी, जहाँ बीमार बेटे मनीष की मौत हो जाती है। किसी ने इसकी सूचना लेखक को नहीं दी जिसके कारण वह बहुत दुखी रहने लगता है।

जूठन

राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा सन् 1997 में प्रकाशित 'जूठन' ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा है। सबसे पहले लेखक ने अपने भौतिक परिवेश का मार्मिक चित्रण किया है। लोगों के मल–मूत्र त्याग करने की गंदी जगहों पर भंगियों की बस्ती थी।

त्यागियों द्वारा इन भंगियों से बेगार करवाया जाता था और बदले में जूठन खाने को दिया जाता था। एक बार एक त्यागी ने लेखक की माँ के माँगने पर जूठन नहीं दिया और गालियाँ देने लगा। माँ ने विद्रोह कर दिया– ''ठा के धर ले अपने घर में। सबेरे बारातियों को नाश्ते में खिला देणा।'' तभी से लेखक के परिवार ने जूठन खाना छोड़ दिया।

जीवन–यापन के लिए संघर्ष की दशा में दलितों की शिक्षा अकल्पनीय थी। ऐसे में ईसाई मिशनरी के सेवकराम मसीही बस्ती में आकर कुछ बच्चों को पढ़ाते थे। बड़ी कठिनाई से लेखक का प्रवेश गाँव के एक स्कूल में हो पाया, लेकिन वहाँ भी तीन दिन तक अध्यापक ने उनसे सिर्फ झाड़ू ही लगवाई। बाद में पिता ने विरोध किया। एक बार एक त्यागी ने लेखक का बस्ता ही कीचड़ में फेंक दिया। जाति के नाम पर कभी छात्र परेशान करते तो कभी अध्यापक। एक बार तो एक अध्यापक के लिए उसके घर से गेहूँ लेने गए, वहाँ खाना–पानी मिला, लेकिन जाति पता चलते ही घर के बुजुर्ग ने लाठी उठाकर उनके दोस्त को मार दी। इन सारी परिस्थितियों में कुछ छात्र तथा अध्यापक लेखक का समर्थन भी करते रहे। दसवीं पास होने पर एक त्यागी ने घर आकर लेखक को बधाई दी और घर बुलाकर अपने बर्तनों में खाना खिलाया तथा जूठी थाली अपनी बेटी से उठवाई। यह लेखक की शिक्षा का सम्मान था।

कुछ लोगों के षडयंत्र के कारण बारहवीं कक्षा में लेखक फेल हो गया और उसे देहरादून जाकर पढ़ाई करनी पड़ी, जहाँ वह लोगों के पुराने कपड़े पहनकर, ताने सुनकर जीवन बिताता रहा। इसी बीच एक ऑर्डिनेंस फैक्ट्री में ट्रेनिंग का अवसर मिला और बाद में वहीं पर नियुक्ति भी हो गई। लेकिन जाति ने पीछा नहीं छोड़ा, हालाँकि कई सवर्ण मित्र अच्छे भी मिले।

चन्द्रपुर, महाराष्ट्र की ऑर्डिनंस फैक्टरी में ट्रेनिंग के दौरान लेखक अभिनय और लेखन में सक्रिय रहा और कई बार सर्वश्रेष्ठ अभिनेता, सर्वश्रेष्ठ निर्देशक का भी पुरस्कार प्राप्त किया, वहीं पर कुलकर्णी (ब्राह्मण) की बेटी सविता से प्रेम हुआ, लेकिन बाद में जाति बताने पर अलगाव हो गया। दरअसल उसे लेखक के भी ब्राह्मण होने का पूरा विश्वास था। बाद में उन्होंने घर–परिवार की मर्ज़ी से शादी की और पत्नी चन्द्रकला के साथ नाट्यकर्म में लगे रहे।

लेखक के सरनेम 'वाल्मीकि' को लेकर परिवार में भी अक्सर मत–भेद बना रहता था। पत्नी और भतीजी विशेष रूप से इस सरनेम के खिलाफ थे, लेकिन लेखक ने इसे स्वाभिमान का मुद्दा मानकर कभी अपना सरनेम नहीं बदला। उनका सरनेम 'वाल्मीकि' अब उनका (ओम प्रकाश वाल्मीकि का) पर्याय है।

दोहरा अभिशाप

'दोहरा अभिशाप' कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा है जिसका पहला संस्करण सन् 1999 में परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी की तीसरी दलित आत्मकथा और पहली दलित स्त्री की आत्मकथा है। लेखिका के माँ–पिता नागपुर की एम्प्रेस मिल में मज़दूरी करते हैं। आर्थिक संकट के बावजूद बड़ा परिवार आपस में मिल–जुलकर घरेलू काम निपटाता है, जिसके बीच–बीच में माँ नानी की जिंदगी की कहानियाँ बताती चलती है। यहीं से 'फ्लैश बैक' (पूर्व दीप्ति) में लेखिका की नानी की कथा शुरू होती है।

लेखिका की नानी (आजी) बहुत सुंदर थीं और तेरह वर्ष की उम्र में विधवा हो गई थीं। बाद में दो बच्चों के पिता मोडकू जी से दूसरा विवाह हुआ। नाना (आजोबा) मोडकू जी का रवैया पितृसत्तात्मक और अक्खड़ था। उनके अत्याचार से परेशान नानी एक बेटे और तीन बेटियों के साथ रात में घर से निकल पड़ी; रास्ते में बुखार से एक बेटी की मौत हो गई। नागपुर में भतीजे से कर्ज लेकर वहीं झोपडी बनाकर रहने लगीं, मेहनत–मज़दूरी करके कर्ज चुकाया और बच्चों को पाल–पोसकर उनकी शादी भी की। स्वाभिमानी नानी की मृत्यु यात्रा के दौरान हुई, तब उनकी गठरी में अंतिम संस्कार का सारा सामान और कुछ रुपये थे। वह मौत के बाद भी किसी पर बोझ नहीं बनना चाहती थीं।

लेखिका ने दलित परिवारों की सामाजिक–आर्थिक दुर्दशा का विस्तार से वर्णन किया है। घर चलाने के लिए पिता ने कभी क्लब में नौकरी की तो कभी बेकरी में काम किया; कभी मिल मज़दूर रहे तो कभी कबाड़ी बने। ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित स्कूलों में मुफ्त शिक्षा पाने के बाद लेखिका ने चौथी कक्षा में सीताबर्डी की भिडे पाठशाला में प्रवेश लिया। वहाँ दो कुनबी लड़कियों के अलावा शेष सब ब्राह्मण थीं। लेखिका उन सबके सामने स्वयं को हीन महसूस करती । लेकिन बाबा साहब अम्बेडकर के भाषण से प्रभावित माता–पिता इन सारी विपरीत परिस्थितियों के बावजूद अपनी बेटियों को पढ़ाते रहे।

माँ–बाप दोनों के मिल–मज़दूर होने के कारण कम उम्र में ही लेखिका पर बहुत अधिक घरेलू ज़िम्मेदारियाँ आ गईं। इसी बीच एक बार छोटी बहन का इलाज करवाने के बहाने हॉस्पिटल के दरबान ने उसे एक ग्राहक के सामने पेश कर दिया, मगर वह चालाकी से बच निकली। पढ़ाई–लिखाई में आगे रहने और सामाजिक सक्रियता के कारण बस्ती वाले भी लेखिका को परेशान करते थे, लेकिन उसने अपना रास्ता नहीं बदला।

इसी बीच सखाराम मेश्राम नाम के एक लड़के से विवाह की बात चली, मगर दहेज के कारण उसने इनकार कर दिया और एक अमीर लड़की से शादी कर ली। अंत में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में बिहार के डी0लिट0 छात्र देवेन्द्र कुमार से लेखिका का विवाह हुआ। विवाह के बाद से ही लेखिका को घरेलू हिंसा का शिकार होना पड़ा। पति की उपेक्षा के कारण उसे आर्थिक संकटों का लगातार सामना करना पड़ा। एक बार तो प्रसूति के दौरान भी पति ने उपेक्षा की। बाद में बेटे, बहन, भाई और माँ–बाप से आर्थिक सहयोग मिलने लगा।

पति का ट्रांसफर दिल्ली होने पर वहाँ अपनी रुचि का काम 'समाजसेवा' की शुरुआत करने के बाद लेखिका दलित बुद्धजीवियों के पास उनकी औरतों को शामिल करने गई तो सभी पुरुषों ने बहाना बना दिया। दलित समाज की स्त्रियों की दुर्दशा का पहला कारण तो स्वयं उन्हीं के परिवार के पुरुषों द्वारा उनकी उपेक्षा है। उन्हें जातिवाद का भी शोषणा झेलना पड़ता है और पुरुषवाद का भी। उन्हें समाज से 'दोहरा अभिशाप' मिला है।

मेरा सफर मेरी मंज़िल

यह डॉ0 डी0आर0 जाटव की आत्मकथा है जिसका प्रकाशन समता साहित्य सदन, जयपुर से सन् 2000 ई0 में हुआ। शिक्षा को महत्व देने वाले पिता की जल्दी मौत के कारण माँ पर सारी ज़िम्मेदारी आ गई। ग्यारह वर्ष की आयु में लेखक का बाल–विवाह हुआ तो उसे आढ़तिया के यहाँ मज़दूरी करनी पड़ी। एक मदरसे में बाबू खाँ से अंग्रेज़ी, हिन्दी, उर्दू और प्रारम्भिक गणित सीखने के बाद प्राइमरी स्कूल में दाखिला लिया जहाँ का ब्राह्मण शिक्षक अक्सर लेखक को मुर्गा बनाकर पीटता था। पत्नी के गहने बेचकर परचून की दुकान खोली और पढ़ाई के साथ–साथ कमाई भी करने लगे, मगर 1950 में दसवीं फेल हो गए। 1951 में दसवीं पास होने पर हाथरस के प्रसिद्ध बागला इण्टर कॉलेज से इण्टर

और मथुरा के के0आर0 कॉलेज से 1954 में बी0ए0 करने के बाद आगरा कॉलेज, आगरा में एम0ए0 (दर्शनशास्त्र) में प्रवेश लिया।

आगरा कॉलेज के ब्राह्मण शिक्षक तो जातिवादी व्यवहार नहीं करते थे, मगर छात्रावास के चौबे छात्र दलित छात्रों को मेस में नहीं खाने देते थे। इसकी शिकायत न प्राचार्य ने सुनी, न उप कुलपति ने। 6 दिसम्बर 1956 को बाबा साहब अम्बेडकर के निधन पर ये चौबे छात्र बहुत खुश थे, बाद में लेखक ने दलित छात्रों को एकजुट कर सबको उसी छात्रावास में प्रवेश के लिए कहा तो सब मान गए और फिर उसमें केवल चार–पाँच चौबे छात्र बचे। इस दौरान डी0आर0 जाटव पं0 जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, जगजीवन राम, राम मनोहर लोहिया, डॉ0 राधा कृष्णन जैसे राष्ट्रीय तथा गोपीचंद पिप्पल, डॉ0 मानिक चंद आदि स्थानीय नेताओं के भाषण लगातार सुनते रहे और उनसे प्रेरणा लेते रहे। इन्हीं दिनों दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर डॉ0 बी0जी0 तिवारी से सम्पर्क होने पर लेखक ने आई0ए0एस0–पी0सी0एस0 बनने की बजाय समाजसेवा को प्राथमिकता देने का निर्णय लिया।

डी0आर0 जाटव की पी–एच0डी0 का रास्ता बहुत कठिन रहा। 'डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का समाज दर्शन' विषय रिसर्च किमेटी के दो सदस्यों को पसंद नहीं आया। बड़ी मुश्किल से यह विषय पास हुआ। पी–एच0डी0 की मौखिक परीक्षा (Viva) भी दो–दो बार देनी पड़ी क्योंकि परीक्षक उनके कार्य से संतुष्ट नहीं थे। अन्ततः उन्हें पी–एच0डी0 की डिग्री मिल गई और वे राजस्थान में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में कार्य करने लगे।

अध्यापन के दौरान अपनी जाति के कारण उन्हें कई कटु अनुभवों का सामना करना पड़ा, लेकिन वे बिना रुके लेखन–कार्य करते रहे। प्राचार्य बनने के बाद उनका सामाजिक कार्य और विस्तृत होता गया। एक बार तो विधान सभा का चुनाव लड़ने के लिए भी तैयार थे, एक बार राजस्थान लोक सेवा आयोग के सदस्य बनने वाले थे, मगर षड्यंत्र के कारण दोनों ही अवसरों पर वे विफल रहे।

डॉ0 डी0आर0 जाटव बेटियों के पक्षधर रहे और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए हमेशा तत्पर रहे। इस तरह एक लम्बा संघर्षमय जीवन जीकर उन्होंने सफलता की मंज़िल पाई।

झोपड़ी से राजभवन

'झोपड़ी से राजभवन' वरिष्ठ कांग्रेसी नेता, दलित साहित्यकार और अरुणांचल प्रदेश के पूर्व राज्यपाल माता प्रसाद की आत्मकथा है जिसका पहला संस्करण सन् 2002 ई0 में नमन प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। आत्मकथा की शुरुआत सवर्णों द्वारा दलितों से बेगार कराये जाने और उनकी दुर्दशा के वर्णन से होती है। बाद में चमार जाति के इतिहास से सम्बद्ध पुस्तकों का परिचय दिया गया है।

लेखक के पिता चमड़े की खरीद–फरोख्त किया करते थे, जिसे बेचने में कभी–कभी लेखक भी मदद करता। दस वर्ष की आयु में लेखक का विवाह लखराजी देवी से हुआ, जिन्होंने देवरानी–जेठानी का अत्याचार सहकर भी किसी से कोई शिकायत नहीं की और बहुत मेहनत से परिवार चलाया; लेखक को पढ़ने–लिखने का अवसर दिया। जीवन की सफलता में लेखक ने पत्नी को पूरा श्रेय दिया है।

सन् 1957 में विधानसभा चुनाव लड़ने के समय से ही लेखक का कांग्रेस से सम्बन्ध रहा। इस बीच पार्टी में होने वाली अन्दरूनी लड़ाइयों, गुटबाजियों का विस्तृत उल्लेख लेखक ने किया है। 1975 में जब बाबू जगजीवन राम ने सी0एफ0डी0 बनाई तो उसमें शामिल हो गए और 1978 में फिर कांग्रेस में वापस आ गए। 1957 में विधायक बनने पर जौनपुर शहर में रहने के लिए बड़ी मुश्किल से मकान मिल सका। विधायक रहते हुए कई महत्वपूर्ण कार्यों की सफलता का विस्तृत उल्लेख पुस्तक में है। राजनीति की उस घटना का भी विस्तृत उल्लेख किया है जिसमें लेखक ने मा0 कांशीराम के विरुद्ध जनता को बहकाने, चमारों और बाबा साहब का अपमान करने आदि का मुकदमा दर्ज़ कराया था।

1993 में माता प्रसाद अरुणांचल प्रदेश के राज्यपाल बने। राज्यपाल के कार्यकाल का विस्तृत वर्णन आत्मकथा में है जिसमें राजनीतिक मुद्दों और घटनाओं के अलावा अरुणांचल प्रदेश की कला–संस्कृति, वहाँ की जनजातियों और उनकी समस्याओं का विस्तार से उल्लेख है। राज्यपाल रहते हुए ही उन्होंने 4 से 8 अप्रैल, 1996 को आयोजित पाँचवें विश्व हिन्दी सम्मेलन (ट्रिनिडाड–टोबैगो) के भारतीय प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व भी किया।

20 अक्टूबर 1999 को राज्यपाल पद का कार्यकाल समाप्त होने पर भी माता प्रसाद इस्तीफा देने की बजाय नये राज्यपाल की प्रतीक्षा करते रहे, जबकि गृहमंत्री ने उन्हें 'हटा' देने की घोषणा कर दी थी। इसी मुद्दे पर लम्बा विवाद चला, भारतीय जनता पार्टी सरकार की बहुत

किरकिरी हुई। आखिरकार जैसी लेखक की इच्छा थी, महामहिम राष्ट्रपति डॉ0 के0आर0 नारायणन के आदेश पर उन्होंने 16 मई 2000 को राज्यपाल पद त्याग दिया।

तिरस्कृत

सूरजपाल चौहान की आत्मकथा के पहले भाग 'तिरस्कृत' का प्रकाशन 2002 में अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद से हुआ। आत्मकथा की शुरुआत में ही भंगी जातियों की दुर्दशा का वर्णन है। भंगियों को सफाई के बदले घरों से जूठन खाने को मिलता था और उनके रहने के लिए टूटी–फूटी झोपडियाँ भर थीं। बीमार होने पर इलाज के बजाय झाड़–फूँक कराया जाता था। यह था भंगियों का जीवन–स्तर।

लेखक ने अपने ताऊ और ठाकुरों के लठैत खचेरा की दबंगई और उससे जुडी घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया है। ताऊ ठाकुरों के कहने पर अपने ही दलित साथियों पर अत्याचार करता था। बाद में जाटवों–भंगियों से लड़ाई हुई तो ठाकुरों ने ही पुलिस बुलाकर मुकदमा करवा दिया। खचेरा की मौत के बाद भी यह मुकदमा नहीं निपटा। लेखक के पिता पक्का मकान बनवाने लगे तो इस बार ठाकुरों ने जाटवों को भड़का दिया, मगर जाटवों ने भंगियों के साथ मिलकर ठाकुरों को खूब फटकारा।

गाँव के स्कूल में भंगी बच्चे अलग बैठाए जाते थे, उन्हें कभी–कभार ही पढ़ाया जाता था। ईसाई मिशनरी के पादरी बाबूलाल मसीही दलितों को शिक्षित करने का प्रयास कर रहे थे।

माँ की मौत के बाद लेखक पिता के साथ खान मार्केट (दिल्ली) के नेशनल स्टेडियम के गेट पर रहने लगा और नगर निगम के प्राइमरी स्कूल में पढ़ने लगा। दीवानचन्द आर्य हायर सेकेंडरी स्कूल, लोधी रोड में पढ़ाई के दौरान संस्कृत का एक शिक्षक अक्सर जाति के ओछेपन की याद दिलाता था। भगत सिंह कॉलेज में पढ़ाई के दौरान अनुपम जैन नामक छात्र से मित्रता हो गई, चौहान उपनाम के कारण वह लेखक को सवर्ण ही समझता था। एक बार उसने लेखक को वजीफा की लिस्ट में अपना नाम ढूँढ़ते देख लिया, बस तभी से घृणा करने लगा।

दिल्ली में रहते हुए ही लेखक को पिता के आर्थिक सहयोग के लिए दैनिक मजदूरी भी करनी पड़ी, लेकिन पढ़ाई नहीं छोड़ी। पढ़ लिखकर लेखक ने भारत सरकार के उपक्रम

एस0टी0सी0 में सहायक की नौकरी कर ली। मेहनत और लगन से काम करने के बावजूद कार्यालय के सवर्ण सहकर्मी उनसे घृणा करते और उन पर व्यंग्य करते। उच्च पद पर पहुँचने पर गुजरात में नौकरी के दौरान पुष्पा नामक ब्राह्मण नौकरानी द्वारा भेद–भाव का शिकार होना पड़ा, जबकि आर्थिक दुर्दशा की स्थिति में जब उसके छोटे बच्चे को काम करते हुए लेखक ने देखा तो पसीजकर उसे पढ़ाई का खर्च दिया। 1984 के सिख विरोधी दंगे में लेखक ने अपने सहकर्मी सरदार एन0एस0 उप्पल की जान बचाई तो वह महीनों आभारी रहा, लेकिन एक बार 'चूहड़े–चमारों' को गाली देने पर लेखक ने टोका तो वह उससे भी घृणा करने लगा।

जगह–जगह लेखक ने ओम प्रकाश वाल्मीकि तथा अन्य दलित बुद्धिजीवियों–साहित्यकारों से मुलाकातों और दलित मुद्दों पर उनके साथ होने वाली चर्चाओं का वर्णन किया है। इसी में किशोर–कौशल' के साथ होने वाली तीखी बहस भी शामिल है। इस पुस्तक में लेखक ने अपनी भावनाओं को बिना किसी लाग–लपेट या दुराव–छिपाव के सहज ढंग से प्रस्तुत किया है।

संतप्त

सूरजपाल चौहान की आत्मकथा का दूसरा भाग 'संतप्त' सन् 2006 में वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। जिन घटनाओं का उल्लेख 'तिरस्कृत' में नहीं हो सका था तथा कुछ अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं को लेखक ने विस्तार से इसमें जगह दी है।

दलितों की आर्थिक दुर्दशा से शुरू होकर बात सामाजिक भेद–भाव और अत्याचार पर आती है। जिस पंड़िया को लेखक की माँ ने ठाकुर से बँटाई पर लिया था, नहर में उसी का जूठा पानी ठाकुर के बैल ने पी लिया तो ठाकुर ने लेखक की पिटाई कर दी। पंडित हरचरन की साइकिल बचपन में सूरजपाल ने छू ली तो उसने भी पिटाई कर दी, हालांकि उसी का पोता बीमार पड़ा तो पंडित लेखक के पास आकर गिड़गिडाने लगा, लेखक ने अपनी कार से उसे हॉस्पिटल पहँचाया। इसी तरह के जातिवादी अत्याचार सहता हुआ 'सुजपला' बड़ा होकर सूरजपाल चौहान बना।

भारत सरकार के उपक्रम एस0टी0सी0 में काम करने के दौरान वरिष्ठ अधिकारी के0सी0 मल्होत्रा द्वारा अक्सर लेखक को जाति के नाम पर अपमानित किया जाता था।

एक दिन लेखक ने उसकी पिटाई कर दी। डी0डी0 धवन की पी0ए0 रमा शर्मा ने भी 'भंगी' कहकर दुर्व्यवहार किया, बाद में लेखक के सामने उसके व्यभिचार का पता चला तो उसका व्यवहार अच्छा हो गया। इसी तरह गाँव में भी ठाकुर और बनिया स्त्री द्वारा जातिवादी टिप्पणियाँ की गईं। यानी लेखक की आर्थिक स्थिति तो बदल गई, मगर सामाजिक स्थिति नहीं बदली।

अपनी आत्मकथा में लेखक ने दलित बुद्धिजीवियों के पाखण्ड तथा दलितों के पारस्परिक मतभेदों–विवादों का भी उल्लेख किया है। डॉ0 धर्मवीर के दर्शन के संदर्भ में मक्खलि गोशाला की भी चर्चा की है जो वास्तव में दलित दर्शन के पुरोधा होने चाहिए।

बाहरी समाज के जातिवाद का विरोध करते हुए लेखक को बहुत बाद में पता चला कि उसका दत्तक पुत्र और भतीजा जय प्रकाश उसकी पत्नी को अपने प्रेमजाल में फँसा रहा है। पत्नी ने भी लेखक पर शक्की होने के ही आरोप लगाए। पिता की संपत्ति को लेकर भाईयों में विवाद हुआ तो किसी ने भी उन पर ध्यान नहीं दिया, लेखक ने ही उन्हें अपने साथ रखा। एक दिन लेखक के कार्यालय में रहने के दौरान ही उनकी मृत्यु हो गई। सूरजपाल चौहान बाहर वालों से कभी नहीं हारे, उनका मुँह तोड़ जवाब दिया, मगर अपने घर–परिवार से ही हार गए।

नागफनी

रूपनारायण सोनकर की आत्मकथा 'नागफनी' शिल्पायन से सन् 2007 में प्रकाशित हुई। संवादों और घटनाओं की नाटकीय प्रस्तुति के कारण यह पुस्तक दलित आत्मकथाओं में विशिष्ट भले न हो, सबसे अलग ज़रूर है। यह आत्मकथा वास्तव मे लेखक के जीवन की कालक्रमिक प्रस्तुति न होकर उससे सम्बद्ध महत्वपूर्ण घटनाओं का लेखा–जोखा है। यह एकमात्र ऐसी दलित आत्मकथा है जिसके लगभग हर पृष्ठ पर वर्णव्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह की अभिव्यक्ति मिलती है।

आत्मकथा की शुरूआत में ही कड़हा माई के मन्दिर की ओर कलश–यात्रा का दृश्य है, जिसमें लेखक की चाची द्वारा कलश सिर पर रख लेने पर एक ब्राह्मण ने उसे गाली देकर तीन–चार लात मारी। दलितों ने पंडित को घेर लिया तो समझौता हो गया। लेखक ने ऐसी तमाम घटनाओं का उल्लेख किया है जिसमें या तो स्वयं लेखक या दलित समुदाय

के अन्य लोगों द्वारा जातिवाद और अत्याचार के विरूद्ध विद्रोह है। कहीं कुश्ती में लेखक द्वारा ब्राह्मण युवक पर जीत का वर्णन है तो कहीं कुएँ से पानी पीने के कारण ब्राह्मणों के हमला करने पर लेखक द्वारा बाल्टी बँधी रस्सी से सबकी पिटाई का दृश्य। कहीं गाँव के व्यभिचारी गुंडे इंद्रजीत सिंह की जबरदस्त पिटाई का उल्लेख मिलाता है तो कहीं गुंडा लखना सिंह की मौत का। एक बार लेखक ने शिवभजन अवस्थी के सामने रिश्तेदार को चारपाई से न उठने के लिए कहा तो ब्राह्मणों ने मारने के लिए घेर लिया; लेखक भी मार–काट पर उतारू हो गया, मगर बीच–बचाव हो गया।

इन प्रत्यक्ष लड़ाइयों के बीच कुछ अप्रत्यक्ष लड़ाइयों का भी उल्लेख लेखक ने किया है। शिवभजन अवस्थी के यह कहने पर कि गोरे चमार ब्राह्मणों द्वारा उत्पन्न होते हैं तो लेखक ने भी मुँह तोड़ जवाब दिया कि काले ब्राह्मण चमारों से उत्पन्न होते हैं। होलिका–दहन के अवसर पर ठाकुरों–ब्राह्मणों द्वारा दलित स्त्रियों के लिए कही जाने वाली अश्लील कहावतों के जवाब में लेखक और उसके गुट ने ठकुराइनों–पंडिताइनों के लिए वही सब कह दिया। खूब मार–पीट भी हुई, बाद में यादवों और चमारों ने समझौता कराया। लेखक के कहने पर यह तय हुआ कि अब से कोई किसी की माँ–बहन को गाली नहीं देगा।

आर्थिक और शैक्षिक स्थिति को तो कठिन परिश्रम से बदला जा सकता है, लेकिन सामाजिक स्थिति को नहीं। लेखक के दूर के रिश्तेदार आर0डी0 सोनकर जब आई0ए0एस0 बनने के बाद गाड़ी से गाँव आए तो ब्राह्मणों ने गाड़ी से उतरकर जाने को कहा। तब लेखक के फूफा पच्चू सोनकर ने आकर आर0डी0 सोनकर को गाड़ी में बैठाया। उन्हीं ईमानदार सोनकर साहब से चिढ़कर एक एस0पी0 ने उन्हें मरवाने का षड्यंत्र किया, मगर उनकी पत्नी की सूझ–बूझ ने उन्हें बचा लिया। 'नागफनी' में ऐसी घटनाएँ भरी पड़ी हैं जो दलितों को स्वाभिमानी और संघर्षशील बनने की प्रेरणा देती हैं।

दूसरा अध्याय

दलित आत्मकथा : चिंतन एवं जीवन–दृष्टि

1. दलित चिन्तन की अवधारणा
2. दलित चिन्तन और दलित आत्मकथा
3. अनुभव की प्रामाणिकता सम्बन्धी प्रश्न
4. दलित आत्मकथा में जीवन–दृष्टि की व्यापकता

दूसरा अध्याय

दलित आत्मकथा : चिंतन एवं जीवन–दृष्टि

दलित चेतना दलित साहित्य का मूल आधार है, और इस चेतना का विकास एवं विस्तार होता है दलित चिंतन से। दिलित चिंतन के सामाजिक–सांस्कृतिक, धार्मिक–आर्थिक और राजनीतिक आयाम दलित आत्मकथाओं में भी अभिव्यक्त हुए हैं। दलित साहित्य के संदर्भ में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का मुद्दा जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही विवादास्पद भी। अधिकांश दलित साहित्यकार सहानुभूति की अपेक्षा स्वानुभूति पर आधारित लेखन को ही प्रामाणिक मानते हैं। इस दृष्टि से आत्मकथाएँ दलित साहित्य का सबसे प्रामाणिक लेखन हैं। समाज के प्रति दलित आत्मकथाओं का व्यापक तथा समावेशी दृष्टिकोण भारतीय समाज के संतुलित विकास के लिए अनिवार्य है।

1. दलित चिन्तन की अवधारणा

किसी अवधारणा या परिघटना के औचित्य–अनौचित्य के प्रति जागरूकता चेतना है और उसके बारे में व्यवस्थित विचार–प्रक्रिया चिंतन। चेतना और चिंतन दोनों अवधारणाएँ परस्पर आश्रित और पूरक हैं। चेतना से चिंतन का प्रारम्भ और विकास होता है तो चिंतन से चेतना सशक्त होती है। चेतना के बिना चिंतन संभव नहीं और चिंतन के बिना चेतना की सार्थकता नहीं। यानी चिंतन की जननी चेतना तो है, लेकिन जब तक वह चिंतन में परिणत नहीं हो जाती तब तक व्यवहार का रूप नहीं ले सकती; और व्यावहारिक परिणति के बिना कोई भी विचार, सिद्धांत, अवधारणा या वस्तु व्यर्थ है।

इसलिए व्यवहार में परिवर्तन के लिए चेतना को प्राथमिक मानते हुए इसके अनिवार्य चरण चिंतन को समझना जरूरी है; साथ ही, यथा–प्रसंग चिंतन के लिए अनिवार्य चेतना पर भी विचार–विमर्श जरूरी है। संक्षेप में, दलित अस्मिता आंदोलन को सम्पूर्णता में समझने के लिए चेतना और चिंतन के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना जरूरी है।

भारतीय समाज में दलितों की जो स्थिति है उसमें अपनी अस्मिता के प्रति चेतना का होना जितना कठिन है उससे ज्यादा कठिन है चेतना का चिंतन के स्तर तक पहुॅचना, चिंतन की व्यावहारिक परिणति तो असंभवप्राय है। इसका कारण है ब्राह्मणवादी व्यवस्था का दलित समाज पर वर्चस्व। वर्चस्व के व्यूह में जो समुदाय फॅस जाता है उसकी अपनी स्वतंत्र चेतना नहीं रह जाती। वह क्रिया और चेतना दोनों ही दृष्टियों से दास बन जाता है, वह अपना अस्तित्व भूल जाता है। 'वर्चस्व' की अवधारणा के सन्दर्भ में 'समाज–विज्ञान विश्वकोश' में लिखा है–

> ''ग्राम्शी के विमर्श के बाद अब वर्चस्व का तात्पर्य प्रभुत्व की उस संरचना से है जो सहमति के आधार पर लागू की जाती है या जो प्रकट जोर–जबरदस्ती के बिना नफीस किस्म के तौर–तरीकों (आर्थिक सत्ता, मीडिया, शिक्षा, प्रचार और लोकोपकारी नीतियॉ) का इस्तेमाल करके समाज में अपने लिए सहमति कायम कर लेती है। ग्राम्शी के अनुसार किसी शासक वर्ग का वर्चस्व तब स्थापित होता है जब वह बाकी सभी वर्गों को यह यकीन दिला देता है कि उसी के हित में सभी का हित है।''[1]

भारतीय समाज पर पूरी तरह ब्राह्मणवादी का वर्चस्व है, यह बात तो स्पष्ट है, लेकिन वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में 'वर्चस्व' की यह अवधारणा इतने सरलीकृत रूप में लागू हुई हेागी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बल्कि प्रारम्भ में तो

जोर–जबरदस्ती के ही माध्यम से वर्चस्व स्थापित किया गया होगा। सहमति के माध्यम से वर्चस्व की स्थापना तो अन्तिम चरण है। जोर–जबरदस्ती का प्रतिवाद क्रमशः मन्द होते–होते सहमति में परिणत हो जाता है और वही सहमति रूढ़ होकर जब परंपरा में ढल जाती है तो उसके वर्चस्व होने की पहचान तक कठिन हो जाती है।

बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने 'अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी' नामक पुस्तक में उन नियमों का उल्लेख किया है जो स्पृश्यों द्वारा अस्पृश्यों पर लागू किये गए थे तथा जिनका उल्लघंन गम्भीर दण्डनीय अपराध था[2] –

1. अस्पृश्यों को चाहिए कि वे अपने घर हिंदुओं की बस्तियों से दूर बनाएं। अगर अस्पृश्य

---

1. अभय कुमार दुबे, समाज–विज्ञान विश्वकोश, संपादक : अभय कुमार दुबे, पृष्ठ : 1708

2. डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्.मय, खण्डः–9, अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी, पृष्ठः 42–43

अपने घर दूर बनाने के इस नियम को तोड़ते हैं या उसकी अनदेखी करते हैं, तब यह उनका अपराध माना जायेगा।

2. अस्पृश्य लोगों के घर गाँव के दक्षिण में होने चाहिए, क्योंकि चारों दिशाओं में दक्षिण दिशा ही सबसे अधिक अशुभ होती है। इस नियम का उल्लंघन अपराध समझा जाएगा।

3. अस्पृश्य को चाहिए कि वह इस बात को ध्यान रखे कि उसके छू जाने या उसकी छाया से भी पाप लगता है। अगर वह इस नियम को तोड़ता है, तब वह अपराध करता है।

4. अगर कोई अस्पृश्य अपने पास किसी भी प्रकार की कोई संपत्ति, जैसे भूमि या पशु रखता है, तब वह अपराध करता है।

5. अगर कोई अस्पृश्य अपने लिए खपरैल की छत वाला घर बनाता है, तब वह उसका अपराध माना जाता है।

6. अगर कोई अस्पृश्य स्वच्छ कपड़े, जूते, घड़ी या सोने के जेवर पहनता है, तब वह अपराध करता है।

7. अगर कोई अस्पृश्य अपने बच्चों के अच्छे नाम रखता है, तब वह अपराध करता है। उनके नाम ऐसे होने चाहिए, जो हीनता/घृणा सूचक हों।

8. अगर कोई अस्पृश्य किसी हिंदू के सामने किसी कुर्सी पर बैठता है, तब वह अपराध करता है।

9. अगर कोई अस्पृश्य घोड़े पर चढ़कर या पालकी में बैठकर गाँव से गुजरता है, तब वह अपराध करता है।

10. अगर कोई अस्पृश्य अपनी बिरादरी वालों का कोई जुलूस गाँव से होकर ले जाता है, तब वह अपराध करता है।

11. अगर कोई अस्पृश्य किसी हिंदू को प्रणाम आदि नहीं करता, तब वह अपराध करता है।

12. अगर कोई अस्पृश्य सभ्य लोगों की भाषा बोलता है, तब वह अपराध करता है।

13. अगर कोई अस्पृश्य किसी शुभ दिन गाँव में आकर बातचीत करता फिरता है जब हिंदू व्रत कर रहे हों या जब वे अपना व्रत पूरा कर अन्न–जल ग्रहण कर रहे हों, तब वह अपराध करता है, क्योंकि उसके मुख से निकली श्वास से न केवल वातावरण दूषित होता है बल्कि हिंदुओं का आहार भी दूषित हो जाता है।

14. अगर कोई अस्पृश्य स्पृश्य व्यक्तियों के जैसे चिह्न धारण करता है और अपने स्पृश्य जैसा प्रदर्शित करता घूमता है, तब वह अपराध करता है।

15. अस्पृश्य को चाहिए कि वह हीन व्यक्तियों के स्तर के अनुरूप दिखे और उसे प्रत्यक्ष रूप में हीनता दर्शाने वाले ऐसे नाम आदि धारण करने चाहिए, जिनसे लोग उसे तदनुरूप पहचान सकें।

दलित समाज पर थोपे गए इन नियमों से स्पष्ट है कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने उनका दमन करने के लिए तथा अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए उन पर हर तरह के प्रतिबंध लगाए। दण्ड के भय से इन प्रतिबंधों का पालन करते–करते कालांतर में कई पीढियों के बाद इन स्थितियों को स्वाभाविक और पूर्व–नियत मान लिया गया। यहॉ ऐसा प्रतीत होता है कि अस्पृश्य समुदाय में स्पृश्यों का प्रभुत्व स्वीकार्य है। हालांकि यह स्वीकार्यता असंदिग्ध नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणवादी रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विरोध प्रायः हर काल में होता रहा है। गौतम बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था के नियमों के विरूद्ध सभी वर्ण के व्यक्तियों को संघ में शामिल किया। हर तरह के भेद–भाव को नकारकर उन्होंने मानव मात्र के लिए धम्मचक्र प्रर्वतन किया। अधिकांश अस्पृश्य जातियों में उनकी अपार लोक प्रियता का यही कारण है। ब्राह्मणवादी पाखण्ड के विरूद्ध चार्वाक दर्शन का विरोध भी यहॉ ध्यातण्य है। चार्वाक दर्शन ने सभी तरह के पाखण्डों, अतार्किकता, अलौकिकता; धर्म–ईश्वर के नाम पर चल रही अनैतिकता एवं भेद–भाव का विरोध किया तथा व्यावहारिक भौतिकवादी दृष्टि का प्रचार–प्रसार किया। कालांतर में सिद्धन्नाथ कवियों की रचानाओं में भी प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से वर्ण व्यवस्था–विरोध के स्वर उपस्थित मिलते हैं। हिन्दी साहित्यक भक्तिकाल में कबीर–रैदास आदि निर्गुण संत कवि भी इस भेद–भाव के विरूद्ध थे। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति कबीर की विद्रोह भावना ने तो उन्हें हर काल में प्रासंगिक बना दिया है।

इन घटनाओं के माध्यम से भारतीय समाज में दलित चेतना की एक मजबूत पृष्ठ भूमि तैयार हो रही थी। दलित चेतना के आयामों को समझकर ही दलित चिंतन की अवधारणो को समझा जा सकता है। दलित चेतना के संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं–

> ''दलित चेतना का सीधा सरोकार 'मैं कौंन हूँ?' से बहुत गहरे तक जुड़ा हुआ है। चेतना का संबंध दृष्टि से होता है, जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक भूमिका की छवि के तिलस्म को तीड़ती है।''[3]

यहॉ ओम प्रकाश वाल्मीकि ने दलित चेतना के संदर्भों को आपस में जोड़ने का प्रयास तो किया है, लेकिन बात अस्पष्ट ही रह गई है। इससे यह भी समझ पाना मुश्किल है कि आखिर दलित चेतना के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भ क्या हैं। हालांकि बाद में उन्होंने अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टि बोध, पाखण्ड–कर्मकाण्ड का विरोध, सामाजिक न्याय की पक्षधरता, वर्ण–व्यवस्था का विरोध, ब्राह्मणवाद का विरोध, अधिनायकवाद का विरोध जैसे सवालों का दलित साहित्य का सरोकारों में शामिल बताया है। दलित चेतना की अवधारणा स्पष्ट करते हुए तेज सिंह लिखते हैं–

> ''दलित समाज के लोगों की आशाओं–आकांक्षाओं और दुख–दर्द की यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ–साथ सामाजिक–आर्थिक विषमताओं से मुक्ति, शोषण–उत्पीड़न के विरूद्ध विद्रोह की चेतना, आत्म–सम्मान से जीने की प्रबल इच्छा–शक्ति तथा एकजुट होकर अपनी अस्मिता की पहचान के लिए संघर्ष की चेतना जागृत करना दलित चेतना है।''[4]

इन विश्लेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति आधारित भेद–भाव तथा शोषण के विरूद्ध संघर्ष चेतना को केन्द्र में रखकर विभिन्न प्रकार के शोषणपरक विचारों का विरोध तथा समानता के सिद्धांतों की स्थापना के लिए किया गया चिंतन ही दलित चिंतन है। दलित चिंतन दलित चेतना के बिखरे हुए पुंजों को एकत्र करके उन्हें इस प्रकार संयोजित करता है कि वह दलित अस्मिता के लिए संघर्ष से उपयोगी भूमिका निभा सकें।

दलित चिंतन का सीधा–सीधा अर्थ है दलितों द्वारा दलित दृष्टि से किया गया

---

3. ओम प्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृष्ठ : 50

4. तेज सिंह, हंस, संपादक : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ : 28

चिंतन। स्पष्ट है कि इस चिंतन में दलितों की पक्षधरता व्यक्त होगी। उसका विरोध भी व्यक्त होगा जो दलितों की अस्मिता को खत्म करने का लगातार प्रयास करता रहा है। लेकिन यह दलित चिंतन का सीमित अर्थ हुआ। वास्तव में तो दलित उन सब का विरोधी है जो किसी भी प्रकार का भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार करते हैं और अंधविश्वास फैलाते हैं। अतः यह मानव मात्र के सुखद भविष्य की स्थापना की संभावना तलाशने वाला चिंतन है। दलित चिंतन का विस्तार वहॉ तक है, जहॉ तक किसी भी तरह का भेद–भाव है। इस संदर्भ में कँवल भारती लिखते हैं–

> ''दलित विमर्श के केन्द्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका संबंध भेदभाव से है, चाहे यह भेदभाव जाति के आधार पर हो, रंग के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार पर हो या फिर धर्म के ही आधार पर ही क्यों न हो।''[5]

तो दलित चिंतन दलितों द्वारा किया जाने वाला चिंतन जरूर है, लेकिन केवल दलितों के लिए किया जाने वाला चिंतन नहीं; बल्कि अपनी व्यापकता में यह सम्पूर्ण मानवता का चिंतन है, क्योंकि यह समाज में समता, स्वतंत्रता, बंधुत और प्रेम की स्थापना को दृष्टि में रखकर विकसित किया जाने वाला साहित्य है। हालांकि डॉ0 धर्मवीर अब तक के दलित चिंतन को अभिशप्त और ठहरा हुआ मानते हैं क्योंकि इसमें विचार ठहरे हुए हैं; एक विचार से कोई नया विचार नहीं निकल रहा। अब तक का दलित चिंतन 'ब्राह्मण' के ही संदर्भों से आक्रांत रहा है–

> ''दलित चिंतन उस समय मुक्त, स्वतंत्र और वास्तविक होगा जिस समय उसके जिक्र में से ब्राह्मण का सन्दर्भ निकल जाएगा। वह दिन उसकी सच्ची स्वतंत्रता का दिन होगा।''[6]

यह सही है कि अब तक का दलित चिंतन अभिशप्त रहा है क्योंकि यह ब्राह्मण के सन्दर्भों से मुक्त नहीं हो सका, लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दलित चिन्तन के उद्भव का मूल कारण ब्राह्मण ही है। ब्राह्मणवादी वर्चस्व और शोषण को समझने के लिए और उससे मुक्ति तथा समता–स्वतंत्रता–बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना के लिए इसका उदय हुआ है। जब तक यह उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। कम–से–कम तब

---

5. कँवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठः 17
6. डॉ0 धर्मवीर, दलित चिन्तन का विकासः अभिशप्त चिन्तन से इतिहास चिन्तन की ओर, पृष्ठ : 75

तक यह दावा नहीं किया जा सकता कि दलित चिंतन ब्राह्मण के संदर्भ से मुक्त हो जाए। दलित आंदोलन द्वारा ऐसा करना अपने उद्देश्य से भटक जाना भी तो है। हॉ, यह अवश्य हो सकता है कि दलित चिंतकों को अपने चिंतन के आयामों का विस्तार करना चाहिए, लेकिन चूँकि ब्राह्मणवाद से मुक्ति इसका मूल उद्देश्य है इसलिए उसके सन्दर्भों का आना तो अनिवार्य है। दलित चिंतन में एक विचार से दूसरे विचार का न निकलना, नवीन विचारों का विकास न होना एक गंभीर समस्या अवश्य है।

दलित चिंतन के मार्ग में कई समस्याऐं सवर्णों द्वारा भी पैदा की जाती रही हैं– या तो दलित चिंतन को हेय और अमान्य सिद्ध करने के प्रयास के रूप में या स्वयं को दलित चिंतन का अगुआ सिद्ध करने के प्रयास के रूप में। इस विषय में डॉ0 धर्मवीर लिखते हैं–

> ''दलित चिन्तन की एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि गैर–दलित लोग इस चिन्तन का प्रतिनिधित्व करने का दावा पेश कर जाते हैं। दलित चिन्तन को उस की पूर्णता तक पहुँचने के मार्ग में इस से ज्यादा बड़ी रूकावट दूसरी नहीं हो सकती। यह इतना बड़ा धोखा है कि कई बार दलित चिन्तक इसका प्रभावी उत्तर नहीं दे पाते हैं। ऐसी स्थिति में सब कुछ गड्ड–सड्ड हो जाता है और बात साफ उभर कर नहीं आती। इसका मूल कारण द्विजों का उदारवाद है जो सच में कभी उदार नहीं हो सकता।''[7]

डॉ0 धर्मवीर का यह कथन एकदम तर्कसम्मत और प्रामाणिक है। दलित वर्ग हमेशा से निरक्षर–अनपढ़ रहा है, फलस्वरूप गैर दलित उनके हितैषी होने का ढोंग कर–करके लगातार उनका शोषण करते रहे हैं या इसके अनुकूल वातावरण बनाते रहे हैं। वर्तमान दलित साहित्य में भी ऐसे गैर–दलितों की भरमार है जो अपने आप को दलित साहित्यकार कहलवाने के लिए जी जान से जुटे हैं। ऐसा करने का उनका एक उद्देश्य तो यह है कि दलितों का सशक्तीकरण को बाधित किया जाय और दूसरा यह कि उनका सशक्तीकरण यदि हो भी तो सवर्ण नेतृत्व में। इन दोनों ही स्थितियों में वर्चस्व सवर्ण का ही बना रहेगा। गैर दलितों की सहचाल नई नहीं है। 1930 में गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर ऐसी ही चाल महात्मा गॉधी ने भी चली थी जिसे बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने उद्धृत किया है... शब्दशः .....

---

7. डॉ0 धर्मवीर, दलित चिन्तन का विकासः अभिशप्त चिन्तन से इतिहास चिन्तन की ओर, पृष्ठ : 76

> ''मैं अस्पृश्यों के महत्वपूर्ण हितों का सौदा नहीं करूँगा, चाहे भारत की स्वतंत्रता भी दांव पर लगी हो। मैं अपने आप को व्यक्तिगत रूप में अस्पृश्यों की बहुसंख्या का एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा करता हूँ। मैं यहाँ पर केवल कांग्रेस की ओर से ही नहीं बोल रहा हूँ, वरन् अपनी ओर से भी बोल रहा हूँ और मेरा दावा है कि यदि अस्पृश्यों में जनमत संग्रह कराया जाए तो उनके मत मुझे मिलेंगे और मेरा स्थान शीर्ष पर होगा।''[8]

महात्मा गॉधी हमेशा दलितों के हितैषी होने का दावा करते रहे, इस उद्देश्य से उन्होंने हरिजन उद्धार के कई आन्दोलन भी चलाए, लेकिन अन्ततः वे वर्ण व्यवस्था के कट्ठर समर्थक ही साबित हुए। डॉ0 धर्मवीर का विचार सही है कि द्विज हमेशा उदारवादी होने का दिखावा करते हैं, वास्तव में वे उदारवादी कभी हुए नहीं। ऐसे उदारवाद की कलई खोलते हुए वे लिखते हैं कि जब दलित अस्पृश्यता के खिलाफ लड़ते हुए द्विजों को चुनौती देता है तो–

> ''इस रणनीति में द्विज बड़ी चतुराई से खुद को कट्टर पंथ और उदारवाद के दो रूपों में विभाजित कर लेता है जिसमें फिर चुनौती का सामना करने के लिए कट्टर पंथ कभी सामने नहीं आता। इस काम के लिए वह अपने जुंड़वा भाई उदारवाद को भेजता है।''[9]

द्विजों का यह द्विआयामी चरित्र नया नहीं है। हर स्थान, काल और परिस्थिति में अपना वर्चस्व स्थापित करने का उनका यह सूत्र अचूक है। बावजूद इसके हर बार उनका तर्क नया होता है।

2 दलित चिन्तन और दलित आत्मकथा

आत्मकथा विद्या में चूँकि लेखक अपने जीवन की कथा को क्यों–का–त्यों यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है, इसलिए इसमें किसी विषय के विवेचन–विश्लेषण की संभावना कम ही रहती है। लेकिन यथार्थ के भी प्रस्तुतीकरण की दृष्टियाँ परस्पर इतनी भिन्न हो सकती है कि एक की कथ्य को दलित और गैर–दलित अपनी–अपनी भाषा में अभिव्यक्त करें वो

---

8. बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर, कांग्रेस एवं गांधी ने अस्पृश्यों के लिए क्या किया, पृष्ठः 74
9. डॉ0 धर्मवीर, दलित चिंतन का विकासः अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर, पृष्ठः 87

दोनों के बीच पर्याप्त भिन्नता परिलक्षित होगी। इस भिन्नता का कारण है दोनों की चिन्तन–दृष्टि में अन्तर और चिन्तन–दृष्टि में अन्तर का कारण है उनकी सामाजिक अवस्थिति में अन्तर। दलित आत्मकथा के सन्दर्भ में इस दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

दलित साहित्य हर उस उपेक्षित विषय–संदर्भ को महत्व देता है जिससे मानव–समाज का हित सधता हो। इसके लिए वह रूढ़ियों के विपरीत नवीन चिन्तन–दृष्टि को स्वीकार करता है। यहाँ तक कि वह आत्मकथा विद्या के प्रति प्रचलित रूढ़िवादी दृष्टियों के विपरीत नई परंपरा का विकास करता है। दलित आत्मकथाओं में आत्मकथा विद्या की उन परम्परागत रूढ़िवादी अवधारणाओं का निषेध मिलता है जिसके अनुसार इस विद्या में नवागंतुकों तथा साधारणत–जन का प्रवेश वर्जित है तथा इनकी रचना कोई वर्यावृद्ध और प्रतिष्ठित व्यक्ति ही कर सकता है। इसके विपरीत दलित आत्मकथा में हर वह अनुभव उपयोगी है जिससे मनुष्य का थोड़ा भी हित सधता हो– चाहे स्वयं आत्मकथाकार का या शेष समाज का – अतः वह अभिव्यक्ति यौग्य है। आत्मकथा विद्या के प्रति दलित चिंतन की इस धारणा ने दलित आत्मकथाओं के रचे जाने का मार्ग प्रशस्त किया। इसी का परिणाम है कि कई नवोदित दलित साहित्यकारों ने ऐसी कालजयी आत्मकथाओं की रचना की जिनकी कल्पना आत्मकथा विद्या के सन्दर्भ में कभी की नहीं गई। बल्कि कई दलित साहित्यकारों की पहली लोकप्रिय रचना आत्मकथा ही रही। सवर्ण साहित्यकारों की दृष्टि में यह उच्श्रृंखलता हो सकती है, लेकिन दलित आत्मकथाकारों की दृष्टि में यही अपने अनुभवों का सर्वाधिक सदुपयोग करना है। इन अनुभवों से शेष समाज को भी अनुभव समृद्ध होता है। दलित चिन्तन ने 'आत्मकथा' विद्या को साहित्य की विद्या के रूप में प्रतिष्टित करने का श्रेय दलित आत्मकथाओं को दिया है। वरिष्ठ दलित चिन्तक तेज सिंह इस सन्दर्भ में लिखते हैं –

> ''दलित आत्मवृन्तों ने परंपरागत आत्मकथा के मिथ और उसकी अवधारणाओं का विखंडन करके एक विद्या के रूप में दलित साहित्य में प्रतिष्ठा पाई है।''[10]

इससे पूर्व आत्मकथाओं को वह महत्व नहीं प्राप्त था जो कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक,

---

10. तेज सिंह, अपेक्षा, जुलाई–सितम्बर : 2003,पृष्ठ : 7

निबन्ध आदि को प्राप्त था। दलित आत्मकथा ने ही सर्वप्रथम् एक साहित्यिक विद्या के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की।

दलित आत्मकथाओं में दलित चिंतन कर स्पष्ट प्रतिबिंबन मिलता है, क्योंकि ये वास्तव में सम्पूर्ण दलित समाज की विभिन्न परिस्थितियों और आत्मकथाकार के बहुआयामी व्यक्तित्व की प्रतिनिधि होती हैं। आत्मकथा में लेखक के पूरे परिवेश, समाज और परिस्थितियों का विस्तृत चित्रण उसके व्यक्तिगत ओर सार्वजनिक जीवन–संदर्भो में मिलता है। इस तरह दलित आत्मकथा पूरे समाज और परिवेश के प्रति नवीन मानववादी दृष्टिकोण और चिंतन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है।

आत्मकथा शत प्रतिशत यथार्थपरक विद्या है। इसमें न किसी तरह की कल्पना की संभावना होती है न अतिशयोक्ति या अन्योक्ति की। इसमें जीवन की घटनाओं का ज्यों–का–त्यों अंकन होता है। हाँ, यह अवश्य है कि आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति के लिए उपयोगी जीवन की घटनाओं के चयन का दृष्टिकोण आत्मकथाकार का अपना होता है। दलित जीवन और समाज में भी कल्पना और कृत्रिमता की न कोई संभावना होती है, न इसके लिए कोई अवकाश। दलित जीवन का यथार्थ ही उनका अन्तिम सत्य है। दलित जीवन की ही तरह दलित चिंतन भी पूर्णतः यथार्थ परक होता है और दलित चिंतन के समानान्तर ही दलित साहित्य–दलित आत्मकथा में भी वही यथार्थ परकता विद्यमान होती है। तो दलित आत्मकथा पर दलित चिंतन ज्यों–का–त्यों लागू होता है।

लेकिन दलित जीवन का यथार्थ दलितेतर जीवन के यथार्थ से निरपेक्ष कभी नहीं हो सकता क्योंकि दोनों समुदाय एक दूसरे के जीवन को प्रभावित करते हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से तथा प्रत्येक समुदाय एक दूसरे समुदाय से अंतःक्रिया करता हैः इसी अंतःक्रिया का परिणाम होती है कोई संस्कृति। दलित आत्मकथाओं में इस सामाजिक सम्बन्ध का व्यापक चित्रण मिलता है। दलित समाज, और दलित चिंतन के प्रति दलित आत्मकथाओं के दृष्टिकोण के संदर्भ में डॉ0 सुभाष चन्द्र लिखते हैं–

> ''दलित आत्मकथाएँ दलित समाज के ऐसे दस्तावेज हैं जो दलित जीवन की ऐतिहासिक त्रासदी को व्यक्त करते हैं। लेखकों ने अपने अनुभवों को प्रामाणिक दस्तावेजों का रूप दिया है जो कि दलित–चिंतन की आधारभूमि तैयार करते हैं। अपने चिंतन की आग में अनुभवों को पकाकर विश्लेषित करके इस तरह संयोजित

किया है कि पाठक उससे दलित जीवन के बारे में मत बना सके, उसे जान सके व समझ सके।''[11]

इस प्रकार दलित आत्मकथाएँ साहित्य का एक औपचारिक अंग मात्र नहीं हैंः न ये दलित समाज का यथार्थ मात्र बताने के लिए लिखी गई हैं और न ही दलितेतर समाज की आलोचना करने के लिए। ये आत्मकथाएँ भारतीय समाज में चिंतन की उस संस्कृति का विकास करने के लिए लिखी गई हैं जो वृहन्तर समाज के हित को केन्द्र में रखें। अब तक जिस भारतीय संस्कृति ओर समाज का प्रचार–प्रसार होता रहा हैं, उसमें केवल आदर्शवादी सिद्धातों की भरमार है; यथार्थ नाम मात्र का भी नहीं। दलित आत्मकथाओं के माध्यम से समाज में उस चिंतन परंपरा को विकास की नीव डाली जा रही है जिसके केन्द्र में सामाजिक समानता है, जिसके केन्द्र सें विभिन्न प्रकार के भेद–भाव और अन्याय–अत्याचार का विरोध है। इस चिंतन–परम्परा का विस्तृत और समृद्ध इतिहास रहा है जिससे व्यवस्थित और प्रचारित–प्रसारित करने का उत्तरदायित्व आधुनिक दलित साहित्यकारों ने संभाला।

दलित चिंतन का केन्द्रीय सरोकार है भारतीय समाज में व्याप्त जाति आधारित भेद–भाव, शोषण और अन्याय–अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष। इस संघर्ष का एक रूप गौतम बुद्ध के जीवन और शिक्षाओं में भी मिलता है। उन्होंने जीवन भर वर्ण–व्यवस्था के काल्पनिक आधार का विरोध कर मनुष्य को समता, प्रेम और भाई चारे की शिक्षा दी। उनकी इन्हीं शिक्षाओं का प्रति बिम्बन दलित साहित्य में मिलता है जिसका एक रूप हैं दलित आत्मकथाएँ। इन दलित आत्मकथाओं के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त जाति–व्यवस्था का खण्डन और विरोध मिलता है। गौतम बुद्ध से प्रेरित–प्रभावित डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने अपना पूरा जीवन जाति व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष करते हुए बिता दिया। जाति–व्यवस्था और धार्मिक अंध–विश्वासों–कर्मकाण्डों के विरूद्ध संघर्ष करने वाले एक प्राचीन व्यक्तित्व गौतम बुद्ध तथा एक समकालीन महापुरूष डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के मध्य भी अनेक ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए जिनका योगदान वर्ण–व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष में अमूल्य है। इनमें संत कबीर दास तथा संत रैदास का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। आधुनिक भारत में सबसे पहला प्रमुख नाम महात्मा ज्योतिराव फुले का मिलता है। इन सभी महापुरूषों का प्रभाव आज के दलित चिंतन पर व्यापक रूप से पड़ा है।

---

11. डॉ0 सुभाष चन्द्र दलित आत्मकथाएँ–अनुभव से चिंतन : पृष्ठ : 156

दलित आत्मकथाओं में सर्वप्रथम जाति–व्यवस्था का विरोध मिलता है, जिसका मूल आधार गौतम बुद्ध के चिंतन से लेकर डॉ0 भीमराव अम्बेडकर तक के चिंतन में मिलता है। इन आत्मकथाओं में वर्णित घटनाएँ जाति–व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष का दस्तावेज हैं। कई प्रसंगों में तो उन दलितों के संघर्ष का उल्लेख है जो जाति–व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर हैं तथा जिनसे किसी प्रकार के विरोध की अपेक्षा नहीं की जा सकती। ये विरोध दलित चिंतन का ही प्रभाव हैं। चिंतन की अलग परम्परा कैसे किसी एक सन्दर्भ का अर्थ बदल देती है, इसका एक उदाहरण ओमप्रकाश बाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' से देखें। उनके लिए 'बाल्मीकि' सरनेम उसी तरह स्वयं से अभिन्न लगता है जिस तरह 'अम्बेडकर' सरनेम बाबा साहब के नाम के साथ मिलकर एक विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में से लिखते हैं–

> ''अब तो यह 'सरनेम' मेरे नाम का एक जरूरी हिस्सा बन गया है जिसे छोड़कर 'ओमप्रकाश' की कोई पहचान नहीं है। 'पहचान' और 'मान्यता' दोनों शब्द अपने आप में बहुत कुछ कह देते हैं। डॉ0 अम्बेडकर दलित परिवार में जन्मे थे। लेकिन 'अम्बेडकर' ब्राह्मण अध्यापक का दिया हुआ उपनाम था। लेकिन भीमराव के साथ जुड़कर उनकी पहचान बन गया, जिसके अर्थ ही बदल गए। आज 'भीमराव' का 'अम्बेडकर' के बिना कोई अर्थ नहीं है।''[12]

अपनी बात को सही सिद्ध करना ओमप्रकाश बाल्मीकि ने डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के चिंतन से सीखा है। वह चिंतन उनकी आत्मकथा में भी अभिव्यक्त हुआ है। केवल ओम प्रकाश वाल्मीकि ने ही नहीं, सभी दलित साहित्यकारों ने प्राचीन काल से लेकर समकालीन दलित चिंतन की परम्परा से शिक्षा ग्रहण की है और अपने लेखन के माध्यम से उसे अभिव्यक्त किया है। दलित चिंतन की उस समृद्ध परंपरा का अनुगमन किये बिना इतना समृद्ध लेखन सम्भव नहीं। दलित आत्मकथाकारों ने दलित चिंतन की समृद्ध पंरपरा से न केवल प्रेरणा ली है बल्कि स्वयं भी अपने लेखन के माध्यम से दलित चिंतन को समृद्ध किया है। इन आत्मकथाओं में बुद्ध–फुले–अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है और उन्हें समकालीन दलित चिंतन एवं परिस्थितियों से जोड़ने का प्रयास भी। इस जुड़ाव के बिना न तो दलित विमर्श आधारित रचनात्मक लेखन संभव एवं सार्थक है, न ही सामाजिक बदलाव– यथा समता–स्वतंत्रता–बंधुता आधारित समाज का निर्माण।

---

12. ओमप्रकाश बाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 158

दलित चिंतन में जाति–व्यवस्था और ब्राह्मणवाद के विरोध के साथ–साथ हर प्रकार के भेद–भाव का विरोध किया जाता है– चाहे वह लिंग के आधार पर हो, भाषा या क्षेत्र के आधार पर हो, रंग के आधार पर हो या नस्ल के आधार पर। जाति व्यवस्था के अतिरिक्त लिंग आधारित भेद–भाव के प्रसंग इन आत्मकथाओं में बहुत हैं। 'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौसल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा में ऐसे कई प्रसंगों का उल्लेख किया है जिनसे स्त्री–पुरूष के बीच भेद–भाव का पता चलता है। स्वयं उनकी आजी(नानी) अपने पति के अत्याचारों का शिकार थीं–

> ''अजोबा बड़े गुस्सैल स्वभाव के थे और झगड़ालू भी। वे बिना कारण आजी पर अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए डाँटते रहते और अपना रोब झाड़ते थे। अजोबा रोज दारूपीते और अपना गुस्सा आजी पर उतारते थे। संभवतः वे आजी के सौंदर्य के आगे अपने को हीन समझते थे। सनकी थे।''[13]

इसके अलावा भी उन्होंने दलित समाज में व्याप्त पुरूषवादी मानसिकता के कारण स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों का वर्णन किया है। स्वयं लेखिका के पति भी इसी मानसिकता से संचालित थे। कौसल्या बैसंत्री ने जिस प्रसंग का यहाँ उल्लेख किया है, वह कम या अधिक मात्रा में सभी स्त्रियों, विशेषतः दलित स्त्रियों के जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। पति का गुस्सैल होना; पत्नी पर रौब झाड़ने के लिए बिना कारण उसे डाँटना–फटकारना, मारना–पीटना, दारू पीना आदि उनका सामान्य व्यवहार है। दलित स्त्री आत्मकथाकारों के साथ ही दलित पुरुष आत्मकथाकारों ने भी स्त्रियों के विरुद्ध अतिवादी पुरुष मानसिकता के प्रसंग अपनी आत्मकथाओं में निस्संकोच उल्लिखित किये हैं।

सवर्ण समाज की अपेक्षा प्रगतिशील दलित समाज की यह एक दुर्बलता लगभग सभी दलित आत्मकथाओं मे कमोबेश मिलती है। इसका सकारात्मक पक्ष यह है कि दलित आत्मकथाकारों ने ऐसे प्रसंगों को छिपाने के बजाये उन्हें पाठकों के सामने उजागर किया है। सूरजपाल चौहान ने तो आत्मकथा विद्या के लिए अनिवार्य लेखकीय ईमानदारी का इतीन निष्ठा से पालन किया है कि अपनी पत्नी की चरित्र हीनता तक का उल्लेख आत्मकथा में करने से परहेज नहीं किया।

---

13. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 19

जातिवादी अन्याय–अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष दलित चिंतन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। इसका व्यापक प्रभाव दलित आत्मकथाओं में मिलता है। रूपनारायण सोनकर ने अपनी आत्मकथा नागफनी में संघर्ष के सर्वाधिक प्रसंगों का उल्लेख किया है। कह सकते हैं कि हिन्दी दलित आत्मकथाओं में उनकी आत्मकथा 'नागफनी' जातिवादी अन्याय–अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष का वास्तविक और सबसे समृद्ध दस्तावेज है। इस आत्मकथा में ऐसे प्रसंगों कर बाहुल्य है। शिवभजनी अवस्थी द्वारा लेखक के रिश्तेदारों का चारपाई पर बैठे देखकर गालियाँ देने का प्रसंग हो, इन्द्रजीत सिंह द्वारा लड़कियों का बलात्कार हो या होलिका दहन के अवसर पर ब्राह्मणों द्वारा दलित स्त्रियों का अपमान–हर जगह लेखक ने करारा जवाब दिया है और जवाब देने का अपना उद्देश्य भी स्पष्ट किया है –

> ''सभी औरतों की गरिम, मान–सम्मान की रक्षा करना हम सभी का कर्तव्य है। ब्राह्मणों को नसीहत सिखाना था। समाज में अपमानित करने वाली परंपराओं को बंद करना मात्र दलितों का उद्देश्य है।''[14]

दलित चिंतन परम्परा के नाम पर रूढ़ियों का विरोध करता है– वह रूढ़ि चाहे धार्मिक हो या सामाजिक। दूसरी ओर, ब्राह्मणवाद परम्परा के नाम पर रूढ़ियों को पाल–पोसकर ढोता है और दलितों पर लादता है। इन दोनों विपरीत ध्रुवों पर संघर्ष स्वाभाविक है, और यह स्वाभाविकाता दलित आत्मकथाओं में परिलक्षित होती है। दलित चिंतन प्रगतिशील है, तर्कशील है, न्यायोचित है, इसलिए सबके लिए हितकर है। इसमें पक्षपात या भेद–भाव की कोई संभावना नहीं। जो साहित्य भेद–भाव और अन्याय–अत्याचार का, षड्यन्त्रों का समर्थन करता है, वह 'सहित' की भावना को नकारता है, साहित्य की मूल अवधारणा का विरोध करता है। दलित साहित्य चूँकि भेद–भाव के आधारों का विरोधी है, इसलिए उसका इतना प्रगतिशील होना अनिवार्य है। चिंतन में व्याप्त इस अनिवार्य प्रगतिशीलता के बिना सम्पूर्ण दलित साहित्य निरर्थक है; स्पष्टतः दलित आत्मकथाएँ भी निरर्थक हो जाएँगी। वास्तव में पूरे दलित चिंतना का मूल उद्देश्य यही है कि किसी भी भेद–भाव के आधार पर समाज के किसी समूह या व्यक्ति का अपमान या उस पर अत्याचार नहीं होना चाहिए। हिन्दी की दलित आत्मकथाओं ने दलित चिंतन के इस केन्द्रीय तत्व को संपूर्ण अभिव्यक्ति दी है। यही दलित आत्मकथाओं की साथर्कता है।

---

14. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 77

3. अनुभव की प्रामाणिकता सम्बन्धी प्रश्न

दलित साहित्य में उसी लेखन को प्रामाणिक, विश्वसनीय और उपयोगी माना जाता रहा है जो स्वयं के अनुभव पर आधारित हो। यदि ऐसा नहीं है तो वह लेखन अप्रामाणिक है, उसमें अभिव्यक्त अनुभव अप्रामाणिक है; फलतः न वह विश्वसनीय है, न उपयोगी। ऐसा लेखन सहानुभूति के आधार पर किया जाता है, न कि स्वानुभूति के आधार पर।

'अनुभव की प्रामाणिकता' दलित साहित्य का जितना महत्वपूर्ण मुद्दा है, उतना ही विवादित भी। इस बिन्दु पर स्वानुभूति और सहानुभूति का द्वंद्व अपने चरम पर होता है। गैर–दलित साहित्यकारों द्वारा दलित विषय पर रचे गए साहित्य को सहानुभूति से उपजा हुआ होने के कारण अप्रामाणिक और अप्रभावी माना जाता है, जबकि दलित साहित्यकारों द्वारा दलित विषयों पर रचित साहित्य को स्वानुभूति से उत्पन्न तथा प्रामाणिक माना जाता है। इस पूरे विवार का आधारभूत प्रश्न यह है कि दलित साहित्य रचने का अधिकारी केवल दलित जाति में उत्पन्न व्यक्ति ही है हया दलितेतर जाति में उत्पन्न व्यक्ति भी ? इस संदर्भ में शरण कुमार लिम्बाले लिखते हैं–

> ''आज इस पर सवर्ण समीक्षकों में दो विचारधाराएँ हैं। एक यह कि दलितेतर लेखक कल्पना के बल पर दलित साहित्य लिख सकता है, दूसरी यह कि केवल दलित लेखक ही दलित साहित्य लिख सकता है। इन दोनों में से दूसरी विचारधारा अधिक यथार्थवादी लगती है। पहली मूलतः कल्पना के बल पर आधारित है।''[15]

हालांकि अपने एक साक्षात्कार में वे दलित विषय पर लिखने वाले दलितेतर साहित्यकारों का स्वागत करने की भी बात कहते हैं[16] और एक अन्य असाक्षात्कार में दलित द्वारा लिखे गए दलित चेतना से हीन साहित्य को 'दलित साहित्य' मानने से इनकार करते हैं–

> ''मेरा तो यह भी मानना है कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य जिसमें दलित चेतना नहीं है, दलित साहित्य नहीं है।''[17]

---

15. शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ : 107
16. शरण कुमार लिम्बाले से बातचीत के आधार पर राकेश तिवारी की टिप्पणी, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ : 151
17. शरण कुमार लिम्बाले से ओमप्रकाश बाल्मीकि की बातचीत वही, पृष्ठ : 130

इसमें कोई द्विविधा नहीं कि दलित जाति के लेखक द्वारा रचित दलित–चेतना से हीन साहित्य 'दलित साहित्य' नहीं माना जाना चाहिए। साहित्य में दलित चेतना का आशय है दलितों के साथ होने वाले भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार का चित्रण; सामाज में हो रहे हर तरह के भेद–भाव के प्रति विद्रोह; अंधविश्वास है तथा कट्टरताओं का विरोध; और इन सारी स्थितियों से मुक्ति के लिए संघर्ष का जज्बा। अगर यह सब किसी दलित की रचना में नहीं है तो उसे 'दलित साहित्य' का दर्जा नहीं दिया जा सकता। दलित साहित्य का अनिवार्य पैमाना लेखक की आत्मानुभूति पर आधारित लेखन, उसकी गुणवक्ता, संप्रेषणीयता और प्रस्तुतिकरण की शैली है, न कि जाति। हालाँकि स्वानुभूति और सहानुभूति के मुद्दे पर तमाम विद्वानों में पारस्परिक मतभेद है। जहाँ एक ओर कुछ सवर्ण विद्वान दलितों द्वारा रचित साहित्य को ही दलित साहित्य मानते हैं और कुछ सवर्ण विद्वान सवर्णों द्वारा दलित विषयों पर लिखित साहित्य को भी दलित साहित्य मानते हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ दलित विद्वान दलितों द्वारा रचे गए साहित्य को भी इस आधार पर दलित साहित्य मानने से इनकार करते हैं क्योंकि उनकी परिस्थिति में अंतर आ चुका है। रत्नकुमार सांभरिया स्वानुभूति के समय–सापेक्ष मानते हैं। उनकी दृष्टि में अतीत की स्वानुभूति भविष्य में सहानुभूति मात्र रह जाती है। वे लिखते हैं–

> ''स्वानुभूति किस पल इतिहास में परिणत हो जाए, भरोसा नहीं है। स्वानुभूति समय–सापेक्ष होती है और कालखण्ड ही उसका निमित होता है। बतौर उदाहरण एक मोची का पढ़ा–लिखा मेधावी लड़का गरीबी और बेरोजगारी के कारण चौराहे पर बैठकर जूतियाँ सीने का अपना पैतृक धंधा करता है। यह काम उसकी मजबूरी है, इरादा नहीं है। निरंतर प्रयासरत यह लड़का बैंक की प्रतियोगी परीक्षा में सफल हो जाता है। जैसे ही वह क्लर्क की कुर्सी पर बैठता है उसकी नई स्वानुभूति उसकी दिनचर्या का अंग बन जाती है और पुरानी स्वानुभूतियाँ सहानुभूति। अब बैठकी पर बैठा कोई मोची उसके लिए सहानुभूत है, स्वानुभूत नहीं।''[18]

यह तर्कपूर्ण उदाहरण बहुत विचित्र है। कालखण्ड में परिवर्तन स्मृतियों और अनुभूतियों को धुंधला कर सकता है, उनके सत्य को या उनके अस्तित्व को मिटा नहीं सकता। क्या वर्तमान काल की परिस्थितियाँ भूतकाल में जाकर उन घटनाओं और अनुभूतियों को नष्ट कर सकती हैं जो वर्तमान पात्र के साथ हुई हैं? बिल्कुल नहीं। इसके अलावा, वर्तमान

---

18. रत्नकुमार सांभरिया, हंस (अगस्त:2004), संपादक:राजेन्द्र यादव, पृष्ठ : 84–85

व्यक्ति का निर्माण उसके अतीत के ही आधार पर हुआ है, निराधार नहीं। व्यक्ति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह भी वही व्यक्ति है जो जूतियाँ सिलता था, जो दुख और कष्ट भोगता था, जो जाति के नाम पर लोगों के अत्याचार सहता था। न उसका मन बदला है, न शरीर; जाति भी नहीं बदली है। लोगों के भीतर उसके प्रति वही भाव रहेगा जो नौकरी से पहले था, भले ही उसके सामने लोग उसे सलामी दें। ऐसा कहकर रत्नकुमार सांभरिया जी जाति के आधार पर होने वाले भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार को नकार रहे हैं। इसका अनुमान शायद खुद उन्हें भी नहीं कि अपनी बात से वे क्या सिद्ध कर रहे हैं।

यही नहीं, कोई व्यक्ति जाति से मोची हो, लेकिन जीवन में कभी उसने न तो जूतियाँ सीने का काम किया हो, न आर्थिक संकट झेला हो, फिर भी उस सामाजिक अवहेलना का शिकार तो होना ही पड़ता है। उसकी जाति के कारण लोग उसके प्रति 'मोची' का ही भाव रखेंगे। तो स्वानुभूति केवल परिस्थितियों पर आधारित नहीं होती, वह जाति पर भी आधारित होती है। कोई दलित आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक आदि स्तरों पर कितना भी विकास कर ले, उसकी पहचान का प्राथमिक आधार उसकी जाति ही होती है। अपने समय के महत्वपूर्ण राजनेताओं, उद्योगपतियों की सामाजिक स्थिति तथा उनके प्रति सवर्णों के दृष्टिकोण का सर्वेक्षर कर इस सत्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। यानी कोई भी अन्य उपलब्धि जाति की हीनता का अतिक्रमण नहीं कर सकती। यदि ऐसा न होता तो जाति के आधार पर कोई भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार होता ही क्यों?

स्वानुभूति और सहानुभूति के द्वंद्व को खारिज कर हिन्दी के साहित्यकारों–आलोचकों का एक बड़ा हिस्सा प्रेमचन्दह, निराला, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर आदि की कुछ रचनाओं को दलित साहित्य घोषित करता है, जबकि इनका लेखन सहानुभूतिपरक है, न कि स्वानुभूतिपरक। वरिष्ठ आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल ऐसे सहानुभूतिपरक लेखन का आधार साहित्यकार की 'परकाया प्रवेश' की क्षमता मानते हैं–

> ''–'जाके पैर न फटी बिवाई। सो का जाने वीर पराई।' यह बात साधारण लोगों के लिए तो ठीक है लेकिन इस कहावत को रचनाकार पर लागू नहीं किया जा सकता। कारण, 'रचनाकार' के अपने विशिष्ट गुण हैं। रचना के समय रचनाकार का ह्रदय लोक का ह्रदय हो जाता है वह अपने चराये की भेद–बुद्धि से दूर होकर सृजन करता है। वह आचार्य शुक्ल के शब्दों में अपना ह्रदय लोक–ह्रदय में मिला देता है, परकाया प्रवेश

की क्षमता प्राप्त कर लेता है और लोक चित्त–वृत्तियों के केन्द्र में पैठकर लोक–भावभूति हसे साक्षात्कार करता है।''[19]

इस कथन के माध्यम से आलोचक ऐसा प्रपंच रचनें का प्रयास कर रहा है जिसमें फँसकर दलित पाठक सवर्णवारी शोषण व्यवस्था की यथास्थिति को स्वीकार कर ले। लेकिन सवाल उठता है कि यदि परकाया प्रवेश की क्षमता से युक्त रचनाकार साहित्य रचते हैं तो दलितों का दुख–दर्द उन्हें क्यों नहीं महसूस होता ? उनके साहित्य में उस दुख–दर्द से लड़ने का जज्बा क्यों नहीं मिलता? संक्षेप में यह कि इन सवर्ण रचनाकारों के साहित्य में दलित चेतना का स्तर शून्य क्यों है ? 'परकाया प्रवेश' में समर्थ 'रचनाकार' के 'विशिष्ट गुण' का एक उदाहरण ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी पुस्तक 'मुख्यधारा और दलित साहित्य' में देते हैं– मेहता लज्जाराम शर्मा वे उपन्यास 'आदर्श हिन्दू' 1915 का एक उदाहरण है–

''यदि आपने उनका पेश्न छुड़ाकर उन्हें वर्णों में संयुक्त कर लिया तो किसी दिन आपको नाई, धोबी, भंगी, चमार नहीं मिलेंगे। उस दिन आपको उनकी जगह लेनी पड़ेगी। इस कारण उन्नति के बहाने हिन्दू समाज में अहार्म का गदर न मचाइये इसलिए ब्राह्मणों को ब्राह्मण ही रहने दीजिए। उनसे जूता सिलवाने का काम न लीजिए। यदि कोई गिर गया हो तो उस पर लात न मारिए।''[20]

'परकाया प्रवेश' के बावजूद औचित्य–अनौचित्य का मूल्यांकन करने वाला साहित्यकार अगर ऐसे विचारों को व्यक्त करेगा तो क्या उसके जवाब में दलित साहित्य की रचना अनुचित है? क्या ऐसे समर्थ लेखकों से यह आशा की जा सकती है कि वे दलित हितों के मुद्दे अपने साहित्य में उठाएँगे? ये सवर्ण रचनाकार दलित साहित्य में शामिल होकर उसे कमजोर करेंगे या मजबूत ? गैर दलितों के दलित साहित्य में शामिल होने के खतरे कम नहीं हैं, इनका उल्लेख कवल भारती भी करते हैं –

''सवाल नेतृत्व का भी है। यदि दलित जीवन पर गैर दलित लेखक के लेखन को दलित साहित्य मान लिया जायेगा, तो नेतृत्व गैर दलित लेखकों के हाथों मे ंजा सकता हैं और इस प्रकार दलित साहित्य लक्ष्य से भी भटक सकता है या भटकाया जा सकता है।''[21]

---

19. कृष्णदत्त पालीवाल, दलित साहित्यः बुनियादी सरोकार, पृष्ठ : 176
20. ओम प्रकाश वाल्मीकि द्वारा मेहता लज्जाराम शर्मा, के उपन्यास 'आदर्श हिंदू' से उद्धृत, मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृष्ठ : 48
21. कॅवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, पृष्ठः 31

यहाँ कँवल भारती दो महत्वपूर्ण बिंदुओं को उठाते हैं। पहला यह कि दलित साहित्य का नेतृत्व गलत लोगों के पास चला जाएगा। सवर्ण लेखक समाज में विशेषाधिकार प्राप्त जाति में उत्पन्न हुआ है; दलित साहित्य की मजबूती से उसके विशेषाधिकारों में कटौती ही होगी, बढ़ोतरी नहीं। ऐसे से भला वह क्यों अपने विशेषाधिकार छोड़ना चाहेगा। वह इसी क्रिराक में रहेगा कि कैसे दलित आंदोलन को कमजोर किया जाय। ऐसी स्थिति में दलित साहित्य का अपने वास्तविक और मूल मुद्दों से भटकाव निश्चित है। दूसरी बात, नेतृत्व सवर्णों के हाथ में होने से दलित साहित्यकार के आत्मविश्वास में भी कोई बढ़ोत्तरी नहीं होगी, उसकी स्थिति ज्यों–कि–त्यों रह जाएगी। डॉ0 तुलसीराम भी इस स्थिति के अस्वीकार करते है–

> ''दलित साहित्य का नेतृत्व निश्चित रूप से दालितों व हाथ में होना चाहिए अन्यथा वह अपना असली स्वरूप खो बैठेगा। xxx दलित साहित्य का नेतृत्व गैर दलित कैसे कर सकता है? यदि ऐसा हुआ तो दलित साहित्य एक भूतपूर्व साहित्य बनकर रह जाएगा। यही नही; एक ही विषय पर लिखा गया दलित तथा गैर–दलित साहित्य अलग–अलग अर्थ भी प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, शंकराचार्य जीवनभर गौतम बुद्ध की जड़ काटते रहे, किन्तु उनकी वंदना मे उन्होंने एक श्लोक लिखा है, जिसमें बुद्ध को महान योगी तथा कमलासन पर बैठे विष्णु का अवतार बताया गया है।''[22]

तो यह षड्यंत्र होता है सवर्णों का। एक बार शंकरचार्य ने गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार कह दिया तो यही बात प्रचलित हो गई पूरे हिन्दू समाज में। आज भी अनपढ़–निरक्षर, यहाँ तक कि बच्चे भी यही जानते हैं कि गौतम बुद्ध विष्णु के अवतार है। देवी–देवताओं के कैलेण्डर में भी विष्णु के सभी अवतारों के साथ नवें अवतार के रूप में गौतम बुद्ध को दिखाया जाता है। जब सीधे विरोध करके सवर्ण लोग दलितों को नहीं हरापाते तो यही रास्ता अपनाते हैं। यदि सवर्ण साहित्यकार दलित साहित्य में शामिल कर लिये गए तो वे हर मुद्दे को अपने लाभ की दृष्टि से व्याख्यायित करेंगे। वे एक तरह से 'सेफ्टी वॉल्व' का ही काम करेंगे ब्राह्मणवाद के लिए। वरिष्ठ हिन्दी आलोचक प्रो0 निर्मला जैन दलितों द्वारा दलित साहित्य के लेखन का उपहास करते हुए इस 'साहित्य में आरक्षण' की संज्ञा देती हैं–

---

22. तुलसीराम, चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, सं0–श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ : 69

''यह सही है कि लेखन सवर्णों या मनुवादियों की बपौती नहीं है। ठीक इसी तरह जाति वर्ग या लिंग–भेद के आधार पर 'कलम चलाकर' साहित्य के कक्ष में आरक्षण भी किसी की बपौती नहीं हो सकती। रिप्रेजेंटेशन के और बहुत तरीके हैं। पर यदि चुनाव साहित्य के माध्यम का किया गया है, तो वह साहित्य की शर्तों पर ही होगा।''[23]

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि दलित साहित्य ही नही; पूरे दलित समुदाय के प्रति सवर्ण आलोचकों का दृष्टिकोण पूर्वग्रह ग्रस्त होता है। बिना सन्दर्भ के 'आरक्षण' शब्द का व्यंग्यात्मक प्रयोग इसका उदाहरण है। 'रिप्रेजेंटेशन' के जितने भी तरीके हैं, उनमें से किसी का भी निर्धारण किसी एक दृष्टि से नहीं होता। इसी तरह साहित्य का स्वरूप क्या हो, यह निर्धारण एकांगी (केवल सवर्णों की दृष्टि से) नहीं हो सकता। दलित, स्त्री, आदिवासी आदि सभी का सम्मिलित दृष्टिकोण ही साहित्य का और उसकी शर्तों का निर्धारण करता है।

सवर्ण साहित्यकार हर जगह अपनी ही शर्त लागू करना चाहते हैं। पहले उन्होंने दलित साहित्य की स्वीकारा नहीं, स्वीकारा तो अपनी शर्तें थोपने लगे। जब शर्तें भी नहीं चली तो गैर–दलित साहित्यकारों की कुछ कृतियों को दलित साहित्य में शामिल करने के लिए दबाव डाल रहे हैं। प्रेमचन्द की कहानियों 'ठाकुर का कुआँ','सद्गति','कफन' तथा 'कर्मभूमि','रंग भूमि' आदि उपन्यासों को दलित साहित्य में शामिल करने के लिए लगातार विवाद चल रहा है। ये रचनाएँ दलित विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण जरूर हैं, लेकिन इनमें दलित चेतना का प्रायः अभाव ही देखने को मिलता है। 'रंगभूमि' यें दलित चेतना के अभाव के संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं–

'' 'रंगभूमि' का नायक 'सूरदास' 'गांधीवादी' विचारों का प्रतिबिंब है, न कि अंबडेकर चेतना का । इस अंतर को समझना–जानना जरूरी है, तभी किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। दलित चेतना के मूल में डॉ0 अंबेडकर विचार दर्शन है, जो गांधी के सुधारवादी दृष्टिकोण से भिन्न है।''[24]

गाँधीवादी विचारों का प्रतिनिधि होने के कारण ही सूरदास कोई विद्रोह नहीं करता,

---

23. प्रो0 निर्मला जैन, दलित साहित्य के अन्तविरोध, सं0–रामकली सर्राफ, पृष्ठ:34

24. ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृष्ठ : 27–28

सत्याग्रह करता है; खुद को दीन–हीन दशा में रखता है। यदि वह अंबेडकरवादी चेतना का प्रतिनिधि पात्र होता तो उसमें दलित चेतना होती, शोषण और अत्याचार के विरूद्ध उसमें आक्रोश होता, दीनता नहीं। समाज–सुधार की इच्छा रखने वाले सवर्ण समाज यही चाहता है कि दलित अपना अधिकार भी माँगे तो दीन–हीन होकर, रो–गिड़गिडकर; स्वाभिमान के साथ नहीं: जबकि बाबा साहब अम्बेडकर उसके भीतर स्वाभिमान देखना चाहते है। गैर दलित हिंदी साहित्य में दलितों को प्रायः दीन–हीन दशा में ही चितित किया गया है। ऐसे ही चित्रण को सवर्ण आलोचक 'दलि साहित्य' में शामिल करने की जिद्द कर रहे है। ऐसे मुद्दों पर वे प्रायः प्रेमचंद को ही ढाल बनाकर प्रस्तुत करते हैं। पूरे हिन्दी साहित्य का हजारवाँ हिस्सा ही दलित संदर्भों को छू पाता है। क्या इसी के भरोसे सवर्ण साहित्यकार–आलोचक हिन्दी साहित्य को दलित समुदाय के साथ न्याय करता हआ देख रहे हैं और सबको जबरन दिखा रहे है। इनकी इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 रामचन्द्र लिखते हैं–

> ''हिंदी साहित्य में दलित संवदेना की बहस जब भी शुरू होती है, अततः बात प्रेमचंद साहित्य पर ही आकर टिक जाती है। प्रेमचंद की दलित संवेदना के आधार पर ही गैर दलितों द्वारा हिंदी साहित्य को बचाने की कोशिश की जा रही है। इतने विस्तृत और समुन्नत साहित्य में सिर्फ प्रेमचंद का उदाहरण देकर आप अपनी गलतियों को स्वीकारने की बजाये, उसे छुपाने का प्रयास करेंगे तो शक का बीज और गहरा हो जाएगा और अंतः आपकी संवेदना पर प्रश्नचिहन लग जाएगा।''[25]

शक का बीज गहरा होने से पहले ही अविश्वास की हजारों साल पुरानी पड़ चुकी है नीव आज तक जर्जर नहीं हुई है। अपनी इस अविश्वासकीयता को सवर्ण समाज ने लगातार और हमेशा प्रमाणित किया है। प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन आदि की दलित साहित्य में घुसपैठ कराने की कोशिश के अलावा सवर्ण आलोचक प्रायः यह भी प्रयास करते हैं कि समाज में दलित चेतना के संवाहक और 'हरिजन' के मसीहा महात्मा गाँधी हैं। उन्हीं के प्रयासों से दलितों का उद्धार हो रहा है। लेकिन कमलेश्वर इस बात को स्वीकार करते हैं कि भारतीय समाज के शोषक और वर्णवादी दुर्ग को अम्बेडकरवादी चेतना ही भेद सकती है–

> ''वस्तुतः सामजिक अत्याचार, अन्याय और शोषण केन्द्रित अमानवीय भेदभाव वाली

25. डॉ0 रामचन्द्र, चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य, सं0–डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ0 देवेन्द्र चौबे, पृष्ठः45

वर्णवादी, दार्शनिक और पौराणिक तत्वज्ञान के इस दुर्ग को महात्मा गाँधी, प्रेमचंद और निराला आदि की चेतावनियाँ हिला नहीं पायी थीं, अन्ततः इसे अम्बेडकरवादी दर्शन, प्रतिपक्षी विचार और रचना ही ध्वस्त कर सकती थी।''[26]

दरअसल प्रगतिशील साहित्यकारों तथा सवर्ण समाज सुधारकों के प्रयासों में सहानुभूति मात्र रही है, जो दलित चेतना से सर्वथा अलग है। दलित साहित्य की स्वानुभूति आधारित प्रामाणिक अभिव्यक्ति में निहित दलित चेतना ही जाति व्यवस्था के विनाश का एकमात्र उपाय है। दलितों–शोषितों के प्रति ईमानदारी बरतने के नाम पर प्रगतिशील साहित्य में दलित संवेदना और चेतना कितनी मिलती है ? भाक्तिकाल में ईश्वर की दृष्टि में तो सबको समान मान लिया गया, मनुष्यों की दृष्टि में उनका क्या स्थान है ? दलितों के प्रति समाज का दृष्टिकोण कितना बदला है ? अपवादस्वरूप कुछ बदलाव जरूर है, तो भी विवशतावश। यही कारण है कि प्रो0 मैनेजर पाण्डेय गैर दिलितों द्वारा दलित साहित्य का लेखन उचित नहीं मानते–

''सारी सहानुभूति करूण, सहृदयता और परकाया प्रवेश की कला के बावजूद गैर दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य में कला चाहे जितनी हो, परंतु अनुभव की वह प्रामाणिकता नहीं होती है, जो किसी भी दलित द्वारा अपने समुदाय के बारे में स्वानुभूति की पुर्नरचना से उपर्ज साहित्य में होती है।''[27]

मैनेजर पाण्डेय की बात तर्कशः सही है। विचार और संवेदना एक से दूसरे माध्यम में प्रवेश करने से पहले वही नहीं रह जाते जो मूल रूप में होते हैं। फिर अभिव्यक्त होने पर तो उनमें और भी बदलाव आ जाता है। स्पष्ट है कि किसी अन्य की अनुभूति को कल्पना के आधार पर अभिव्यक्ति में सत्य का स्तर वही नहीं रहेगा जो मूल रूप में है। मैनेजर पाण्डेय तो मात्र एक विद्वान आलोचक की दृष्टि से विश्लेषण करके यह निष्कर्ष दे रहे हैं, लेकिन डॉ0 गोपेश्वर सिंह ने प्रायोगिक स्तर पर जो निष्कर्ष पाया, वह महत्वपूर्ण और दृष्टव्य है। श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' के संदर्भ में वे लिखते हैं–

---

26. कमलेश्वर ('दलित साहित्य का प्रामाणिक आकलन' शीर्षक भूमिका) दलित साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ0 हरिनारायण ठाकुर, पृष्ठः 8;
27. मैनेजर पांडेय, दलित चेतनाः साहित्य, सं0–रमणिका गुप्ता, पृष्ठ : 4

''बावजूद इसके कि बेचैन एक दलित घर में पैदा हुए और मैं एक सवर्ण परिवार में, मेरे बचपन की अभावभरी और दुखों से सनी दुनिया एक बार फिर मेरी आँखों में थी और मुझे हिला रही थी। लेकिन इसके अतिरिक्त इस आत्मकथा में ऐसा बहुत कुछ था, जो मेरे अनुभव का हिस्सा नहीं था। xxx मैंने वह सब देखा तो है, लेकिन मैं उसका हिस्सा नहीं रहा हूँ। देखे हुए और भोगे हुए जीवन को रचना में ढालने में जिस तड़प का फर्क आएगा, वह यहाँ है। आर्थिक अभाव के कारण एक सवर्ण लड़के की जो मुसीबतें हो सकती हैं, उसका मैं भोक्ता हूँ। लेकिन गरीबी के साथ एक दलित लड़के का जो यातना से भरा अलग जीवन है, वह मेरे हिस्से कैसे आ सकता है। भेदभाव से भरे सामाजिक व्यवहार को हमने देखा है। गरीबी के साथ सामाजिक व्यवहार का, आत्मा को हिलाता हुआ, अपमान तो बेचैन ने ही झेली है।''[28]

एक सवर्ण द्वारा गरीब के दंश के अनुभव तथा एक दलित द्वारा गरीबी के साथ–साथ जाति के दंश के अनुभव का जो अंतर है, वही सहानुभूति और स्वानुभूति का अंतर है।

स्वानुभूति और सहानुभूति के संदर्भ में कुछ तर्क–वितक सहा पूतीत होते हैं, कुछ गलत भी। लेकिन अगर सवर्णों ने दलित समाज को साहित्य मे ंउचित स्थान दिया होता तो आज उनके द्वारा 'दलित लेखन' की जिद पर सवाल न उठता। सीधी सी बात केवल इतनी है कि सवर्णों की सदिच्छा पर दलित साहित्यकारों का भरोसा नहीं है। दलित साहित्य के माध्यम से सवर्ण साहित्यकार दलित समाज का भला करना चाहते हैं, अपवाद स्वरूप कुछ साहित्यकारों ने आंशिक सफलता भी पाई है। लेकिन दलित साहित्य में घुसने की उनकी मारामारी के बावजूद ओमप्रकाश वाल्मीकि को अपनी यथार्थ चिंतर व्यक्त करनी पड़ रही है–

''एक बात जो लगातार चिन्ता का विषय बनी हुई है, वह यह है कि दलित साहित्य विमर्श में भागीदारी करने वाला गैर दलित रचनाकार, विद्वान, आलोचक, पाठक दलित समाज के प्रति, उदासीन है, यह बेचैन कर देने वाली स्थिति है।''[29]

दलितों के प्रति गैर दलित समाज का यह दोहरा व्यवहार नया नहीं है। सैद्धांतिक रूप से शोषण के विरूद्ध और व्यावहारिक जीवन में शोषकों के पाले में या स्वयं शोषक बने

---

28. गोपेश्वर सिंह, अपेक्षा, जुलाई–दिसम्बर 2010, संपादक–तेज सिंह पृष्ठः

29. ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृष्ठ : 166

रहना सवर्ण समाज के अधिकांश की स्थायी प्रवृत्ति है। इसी कारण वीर भारत तलवार लिखते हैं–

> ''इन सवालों के उठने की वजह दरअसल यह है कि दलितों के प्रति सहानुभूति और समर्थन का भाव रखने वाले सवर्ण लेखक अपने तँई काफी प्रगतिशील होने के बावजूद, जितने बौद्धिक रूप से प्रगतिशील हैं उतने वास्तविक और व्यावहारिक जीवन में नहीं।''[30]

उत्तर आधुनिकता, और लोकतंत्र के इस युग में किसी भी क्षेत्र में एकाधिकार नहीं स्थापित किया जा सकता...साहित्य पर भी नहीं। अनुभूति और रचना की प्रामाणिकता–अप्रामाणिकता का निर्णय भी पाठक पर छोड़ दिया जाना चाहिए।

दलित विमर्श का आंदोलन समतामूत्रक समाज की स्थापना के लिए चल रहा है..... और गैर दलित भी इसमें सक्रिय भागीदारी करना चाहते है; उनकी भागीदारी सफल भी हो रही है। लेकिन इस मुद्दे को लेकर दलित–गैर दलित के बीच द्वंद्व की स्थिति लगातार बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में एक सरल रास्ता है– दलित लेखक भेद–भाव, शोषण–दमन, अन्या–अत्याचार के विरूद्ध समतामूलक समाज की सैद्धांतिकी का निर्माण और प्रचार–प्रसार करें तथा इस क्षेत्र में अपनी भागीदारी और समाज को सर्वांगीण विकास की ओर ले जाने के लिए उत्सुक गैर–दलित दलितों को अपने झंण्डे के नीचे लाने का अहं त्यागकर उनकी सैद्धांतिकी को व्यवहार में उतारकर एक निष्पक्ष और सशक्त समाज की स्थापना में अपनी भूमिका का निर्वाह करें। यदि दोनों ईमानदार हैं, तो यह रास्ता निश्चय ही भारतीय समाज की प्रगति में सहायक होगा; यदि दोनों या कोई एक बेईमान है तो उनका कोई भी प्रयत्न कुछ नही कर सकता।

2.4 दलित आत्मकथा में जीवन–दृष्टि की व्यापकता

साहित्य की संवेदना का आयाम इतना व्यापक होना चाहिए कि वह सम्पूर्ण सृष्टि के हित की अभिव्यक्ति कर सके और जब यह आयाम सीमित हो तो इसका केन्द्र समाज का सबसे शोषित–पीड़ित–वंचित तबका होना चाहिए। तथाकथित मुख्यधारा का साहित्य 'समाज का दर्पणं' भले ही न हो, लेकिन दलित साहित्य वह दर्पण है जो हर तरह के

---

30. वीर भारत तलवार, चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य, सं0–श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे पृष्ठ : 82

भेद–भाव, शोषण और अन्याय–अत्याचार को प्रतिबिंबित कर इनके विरुद्ध अपना स्वर तीव्र करता है। भारतीय समाज की कुरीतियों–विकृतियों के महिमामण्डन और प्रशस्तिगान की बजाय दलित साहित्य ने इसके कटु यथार्थ को उद्‌घोटित करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके व्यापक सामाजिक सरोकार को रेखांकित करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं–

> ''वास्तव में ये दलित साहित्य ही है, जिसके अध्ययन के पश्चात् किसी भी समाज का वास्तविक अध्ययन हो सकता है। यदि दलित साहित्य नहीं होता, तो यह जान पाना असम्भव होता कि हमारा सामाजिक इतिहास किन पीड़ाओं, तकलीफों, अन्यायों, शोषणों और असमानताओं का इतिहास है।''[31]

आत्मकथा दलित साहित्य की केन्द्रीय विधा है, क्योंकि इसमें दलित साहित्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ अभिव्यक्त होता है। दलित आत्मकथाओं ने पूरे भारतीय समाज के यथार्थ को तथ्यात्मक सच्चाई और संवेदनात्मक गहराई के साथ उद्‌घाटित किया है। इस दृष्टि से इन आत्मकथाओं का संदर्भ व्यापक है।

हिन्दी साहित्य की परम्परागत आत्मकथा स्थापित अस्मिता की प्रशस्ति है तो दलित आत्मकथा अस्मिता की खोज–यात्रा का एक पड़ाव। परम्परागत रूप से हिन्दी साहित्य में जीवन–यात्रा के अन्तिम पड़ाव पर आत्मकथाएँ लिखी जाती थी ताकि उसे संरक्षित किया जा सके। जीवन–यात्रा की अन्तिम स्थिति में कोई भी संघर्ष बाकी नही रह जाता, बल्कि तमाम उतार–चढ़ावो का अन्त हो चुका होता है; ऐसी निलिप्त स्थिति में आत्मकथा लिखना बहुत सहज है।

दलित आत्मकथाकार जीवन को व्यापक दृष्टि से देखते है, जिसमें जीवन–यात्रा से निवृति मात्र उनका अभीष्ट नही होता और न ही अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर उसकी प्राप्ति–अप्राप्ति का मूल्यांकन। दलित आत्मकथाएँ केवल इसलिए नहीं लिखी जातीं कि आत्मकथाकार अपनी उपलब्धियों का लेखा–जाखा तैयार करे। उनका महत्व इतना हलका नहीं है, बल्कि सामाजिक विद्रूपतापूर्ण यथार्थ की प्रामाणिक अभिव्यक्ति उनका उद्देश्य है ताकि लोग उनसे लाभान्वित हो सकें।

---

31. कमलेश्वर ('दलित साहित्य का प्रामाणिक आकलन' शीर्षक भूमिका) दलित साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ0 हरिनारायण ठाकुर, पृष्ठः 7;

किसी भी साहित्यिक कृति में आर्य पात्रों के जीवन की सार्थकता तब है जब यथार्थ जीवन के पात्र उनसे प्ररेणा लें। दलित आत्मकथाकार इसलिए अपने संघर्षो के चरम काल में आत्मकथा लिखते हैं। उनके लिए संघर्ष का हर क्षण, हर अंश सार्थक होना चाहिएं। जीबन के उपयोग और उसकी सार्थकता की यह व्यापक दुर्लभ दृष्टि दलित आत्मकथाओं मे ही मिलती है। दलित आत्मकथाओं में पूरे दलित समाज के संघर्ष को व्यापकता में अभिव्यक्त किया जाता है। दलित आत्मकथा की सामाजिक भूमिका का उल्लेख करते हुए तेज सिंह लिखते हैं–

> ''दलित आत्मवृत्त एक व्यक्ति के माध्यम से पूरे दलित समाज का वृतांत प्रस्तुत करते हैं। ठीक इसी तरह एक व्यक्ति का प्रश्न पूरे दलित समाज कर प्रश्न बनकर उभरता है। अपनी सामाजिक अस्मिता की तलाश के लिए वह प्रतिपक्ष के सामने प्रश्नों की झड़ी लगा देता है।''[32]

परम्परागत आत्मकथाओं की तुलना में दलित आत्मकथा की यह भूमिका सामाजिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कला तथा साहित्य की अभिव्यक्ति के माध्यम से :'स्वान्तः सुखाय' का जो कार्य तथाकथित मुख्यधारा में लिया जा रहा था, दलित आत्मकथा ने उसे चुनौती देते हुए उसके विपरीत नया रास्ता चुना है। यही कारण है कि इन आत्मकथाओं के माध्यम से दलित समाज में प्रचालित प्रगतिशील रीतियों–प्रेम विवाह पुनर्विवाह, विधवा–विवाह, श्रम का महत्व, जीवन के प्रति सकारात्मक और संघर्ष पूर्ण दृष्टिकोण आदि की संस्कृति को अभिव्यक्ति दी जा रही है। दलित समाज में प्रगतिशीलता के प्रति जो व्यापक दृष्टिकोण है दलित लेखक उसे अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति दे रहे हैं। ये आत्मकथाएँ भारतीय दलित समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती हैं।

दलित आत्मकथाएँ आत्मकथाकारों के जीवनभर की उपलब्धियों का लेखा–जोखा मात्रा न होकर भारतीय समाज में व्याप्त विसंगतियों का यथार्थ चित्रण हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि भी मानते हैं कि दलित आत्मकथाएँ व्यक्ति तक केन्द्रित न होकर व्यापक समाज तक विस्तृत हैं। समाज का जो हिस्सा व्यवस्था और साहित्य से बाहर कर दिया गया था, दलित आत्मकथाएँ उसका यथार्थ व्यक्त कर रही हैं–

---

32. तेज सिंह, अपेक्षा, जुलाई–सितम्बर, 2003, पृष्ठ : 9

''दलित आत्मकथाएँ पूरे समाज से जुड़ी हुई आत्मकथाएँ हैं। इसमें स्वयं दलित आत्मकथाकार का जीवन होता है, साथ में समाज का भी इतिहास है, उसका दस्तावेज है। xxx दलित आत्मकथाएँ अपने माध्यम से समाज का पूरा खाका खींच रही हैं। एक इतिहास दे रहे हैं जीवन का, जो इतिहास अभी तक लिखा नहीं गया, उसे हम आत्मकथा के माध्यम से लिख रहे हैं।''[33]

तो दलित आत्मकथाओं की जीवन–दृष्टि समाज के कोने–कोने तक व्याप्त है, मात्र संभ्रांत वर्ग तक सीमित नहीं। ये आत्मकथाकारों की व्यथा–कथा मात्र भी नही हैं, बल्कि सवर्ण समाज की आत्मप्रशस्ति के जवाब में उसी के समानान्तर दलित समाज के यथार्थ और संघर्ष का जीवंत इतिहास हैं जिससे पूरा सवर्ण समाज नजर अंदास करता रहा है। दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त जीवन के प्रति इस व्यापक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं–

''आत्मकथा' दलित साहित्य की प्रमुख विधा है जिसके द्वारा दलित लेखक मात्र अपनी व्यथा–कथा या अपने दग्ध अनुभव ही अभिव्यक्त नहीं करता बल्कि अपने समाज का एक इतिहास भी प्रस्तुत करता है। मेरा तो यह मानना है कि प्रत्येक दलित लेखक को आत्मकथा लिखनी चाहिए। दलित जातियों में अभी ऐसी अनेक जातियाँ हैं जिनकी जीवन–कथाओं से पाठक अनभिज्ञ हैं। यदि उस जाति–विशेष से आये रचनाकार अपनी आत्मकथाएँ लिखेंगे तो सामाजिक जीवन में व्याप्त संकीण मनोवृत्तियाँ, विन्देष, महानता की ओट में रचे गये पाशविक कृत्य, खुलकर सामने आयेंगे और ऐसे अनुभवों से पाठकों का सामना होगा जिन्हें साहित्य ने त्याज्य बना दिया था। यह आत्मकथाओं के द्वारा ही संभव है।''[34]

यह दलित समाज और उस पर आधारित आत्मकथाओं के व्यापक दृष्टिकोण का ही प्रभाव है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि सभी दलित जातियों द्वारा आत्मकथा लिखे जाने की वकालत करते हैं ताकि भारतीय समाज का सत्य उजागर हो सके।

दलित आत्मकथाएँ भारतीय दलित समाज में व्याप्त जातिवादी समस्याओं की

---

33. ओमप्रकाश वाल्मीकि, (भँवरलाल मीणा को दिया गया साक्षात्कार,) बनास जन, अप्रैल 2014, संपादक : पल्लव, पृष्ठः 18

34. ओमप्रकाश वाल्मीकि (डॉ0 देवेन्द्र गुप्ता से बातचीत), दलित साहित्य की विकास–यात्रा, सं0–डॉ0 रामचन्द्र, पृष्ठः 156–157

अभिव्यक्ति तो करती ही हैं, साथ ही उनके विरूद्ध संघर्ष को भी पर्याप्त जगह देती हैं। यही नहीं, यथाप्रसंग सवर्ण समाज का भी पर्याप्त चित्रण इन आत्मकथाओं में मिलता है। अपनी आत्मकथा 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने सवर्ण समाज के जातिवादी व्यवहार तथा जाति आधारित शोषण का उल्लेख तों किया ही है, साथ ही उन प्रसंगों का उल्लेख करना नहीं भूले हैं जिनमें सवणों का आदर्श रूप देखने को मिलता है। उन्होंने बरला के अपने हिंदी अध्यापक बाबूराम त्यागी की प्रशंसा करते हुए हिंदी भाषा साहित्य के प्रति रूचि विकसित करने, उसे सुधारने तथा मार्गदर्शन करने के लिए उनके प्रति अपना आभार व्यक्त किया है। लेखक के हाइस्कूल पास करने पर चमनलाल त्यागी ने घर आकर बधाई दी और अपने घर खाना भी खिलाया। इस घटना क्रम में सबसे आश्चर्यजनक और महत्वपूर्ण बात स्वयं ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में–

> ''खाना खाकर में जूठे बर्तन उठाने लगा, तो उन्होंने मुझे रोक दिया और अपनी बेटी को आवाज दी, भैया के बर्तन बठाकर ले जा।'' वह आकर जूठे बर्तन ले गई। उनके इस व्यवहार ने मेरी आँखे नम कर दी थीं। मैं भावुक हो उठा था। उस क्षण प्रताड़ना और अपेक्षा–भरे माहौल में, ऐसे व्यवहार की उम्मीद ही कहाँ थी।''[35]

भारतीय समाज में ऐसी घटनाओं और दलितों के प्रति सवर्णों के ऐसे व्यवहार की जितनी भी संभावना है कम–से–कम उस अनुपात में दलित आत्मकथाकारों ने इनका उल्लेख किया है। तो सामज में जाति आधारित घृणा और द्वेष फैलाने का जो आरोप सवर्ण आलोचक दलित साहित्य और साहित्यकारों पर लगाते हैं, वह पूरी तरह निराधार है। समाज में ऐसी विकृतियों को फैलाने के मुख्य आरोपी तो वही हैं जो बाहर से उदार बने रहते हैं लेकिन भीतर–ही–भीतर जातिवाद जैसी दूषित परम्पराओं को पालते–पोसते रहते हैं। दलित लेखन चूँकि समता, स्वतंत्रता, बंधुता पर आधारित समाज के निर्माण के उद्देश्य से संचालित है, इसलिए इस पर निराधार दोषारोपण उचित नहीं। दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की उदार दृष्टि के विषय में डॉ0 एन0 सिंह लिखते हैं–

> ''सामाजिक अछूतपन के विष को ओमप्रकाश ने पिया तो है, लेकिन उसे पीकर भी वे कटु नहीं हो पाए जिसके उदाहरण इस आत्मकथा में भी उपलब्ध हैं। xxx जो सहजता ओमप्रकाश वाल्मीकि के जीवन में है, वह उनके लेखन में भी है। xxx वे कहीं पर भी

---

35. ओमप्रकाश बाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 75

असंतुलित और कटु नहीं हो पाए हैं, न जीवन में, और न लेखन में।''[36]

दलित के साथ–साथ सवर्ण पाठकों के बीच भी ओमप्रकाश वाल्मीकि की लोकप्रियता का यही कारण है। भारतीय समाज और सवर्ण समुदाय में जहाँ भी उदारता की संभावना होती है, दलित लेखक उसे स्वीकार भी करता है और प्रचारित–प्रसारित भी।

डी0 आर0 जाटव ने भी अपनी आत्मकथा 'मेरा सफर, मेरी मंजिल' में अपने शोध निर्देशक डॉ0 जी0बी0 तिवारी की न केवल प्रशंसा की है बल्कि अपने प्रति उनकी उदारता का भी उल्लेख किया है। वे लिखते हैं –

> ''वह बहुत ही योग्य प्रोफेसर, एम0ए0(दर्शन, अंग्रेजी) एल0टी0, एल–एल0बी0, पी–एच0डी0 तथा डी0 लिट्0 थे। वह कानपुर में वकालत भी कर चुके थे। वह कई पुस्तकों के रचयिता भी थे। डॉ0 तिवारी अंग्रेजी भाषा के मर्मज्ञ और बाबा साहब अम्बेडकर के दार्शनिक विचारों से भलीभांति परिचित थे। जब मैंने जबलपुर से आने की इच्छा जाहिर की तो उन्होंने मुझे उतना धन भी दिया जो आने–जाने के खर्चे के लिए पर्याप्त था।''[37]

दलित आत्मकथाओं में उल्लिखित ऐसे प्रसंग इस बात का प्रमाण हैं कि सवर्ण समाज ने दलितों की सहृदयता के प्रति आभार भलेन जताया हों, उन पर चाहे जितना अत्याचार किया हो; लेकिन दलित लेखकों ने उस एक सवर्ण व्यक्ति के प्रति भी अपना आभार जताया है जिसने उनका सम्मान किया या सहायता की। यक दलित आत्मकथाकारों की जीवन–दृष्टि की व्यापकता और उदारता ही है कि उन्होंने ऐसे अपवाद प्रसंगों को सामाजिक बदलाव की उम्मीद की चिंगारी के रूप में प्रचारित–प्रसारित किया। उन्हें उम्मीद है कि समाज में व्याप्त नकारात्मकता हमें जितना पीछे ले जाएगी, सकारात्मकता उससे कहीं आगे ले जाएगी।

जैसे दलित चिंतन की व्यापकता में सबके लिए जगह है, वैसे ही दलित जीवन के विस्तार में भी सबके लिए जगह है। यहाँ संकीर्णता नहीं, उदारता है। आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी के एक उदाहरण से इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है–

---

36. डॉ0 एन0 सिंह, युद्धरत आम आदमी, संपादक : रमणिका गुप्ता, पृष्ठ : 203

37. डी0आर0 जाटव, मेरा सफर मेरी मंजिल, पृष्ठ : 34

''इस देश का एक संविधान स्वतंत्र आर्यावर्त में मनु महाराज ने रचा था, और दूसरा देश के फिर से स्वाधीन होने पर डॉ0 अम्बेडकर ने रचा। मनु के विधान में अम्बेडकर के लिए स्थान नहीं था, या नहीं जैसा था, अम्बेडकर के विधान में मनु के लिए पूरा स्थान है।''[38]

सवर्णों ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग अपनी स्वार्थपूर्ति तथा अन्य के शोषण के लिए किया जबकि दलित का ह्रदय इतना उदार होता है कि वह 'सर्वजन हिताय' की अवधारणा को अपने जीवन में व्यवहृत करता है। इस व्यापक सामाजिक हित के लिए वह स्वयं को संकट में भी डाल सकता है।

जीवन के प्रति यह व्यापक सकारात्मक दृष्टिकोण दलित आत्मकथाओं में आत्मकथाकारों ने अपने जीवन के असमाप्तप्राय संकटों के संदर्भ में भी दर्शाया है। कठिन–से–कठिन परिस्थितियों में भी हार न मानकर अंतिम समय तक जीत के लिए संघर्ष और उनकी जिजीविषा उनकी इसी व्यापक जीवन–दृष्टि का प्रमाण है।

38. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ : 17

तीसरा अध्याय

दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त जीवन–स्थितियाँ

7. सामाजिक स्थिति : बहिष्कृत अस्मिता का जीवन
8. आर्थिक स्थिति : श्रम की उपेक्षित संस्कृति
9. राजनैतिक स्थिति : सत्ता–समीकरण की विषमताएँ
10. धार्मिक स्थिति : चेतना की आदिम अवस्था
11. शैक्षिक स्थिति : विकास का मूल आधार
12. यथास्थितिवाद के प्रति विद्रोह

तीसरा अध्याय

दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त जीवन–स्थितियाँ

दलितेतर साहित्य में दलित जीवन को पर्याप्त स्थान नहीं मिल रहा था इसलिए दलित साहित्य की आवश्यकता पड़ी । साहित्य में उनके जीवन को केन्द्र में रखकर अपवाद स्वरूप जो भी रचानएँ की जा रही थीं, वे भी अपूर्ण,अप्रामाणिक और दलित चेतना से हीन थीं। दलित साहित्यकारों ने दलित समाज और जीवन की सम्पूर्ण और प्रामाणिक अभिव्यक्ति की। यही नहीं उन्होंने दलितेतर समाज को भी यथाप्रसंग यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। दलित साहित्यकरों ने आत्मकथाओं में भारतीय समाज को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उससे यहाँ की सांस्कृतिक रूढ़ियों के विकृत यथार्थ का उद्‌घाटन होता है। इन दलित आत्मकथाओं में दलित समाज के भौतिक परिवेश, और पारिवारिक परिस्थितियों को विस्तार से वर्णित किया गया है जिनके माध्यम से समाज में उनकी स्थिति का पता चलता है। दलित समाज और परिवार, उनकी परंपराओं–मान्यताओं और रूढ़ियों के साथ ही इन आत्मकथाओं में दलित समाज की स्त्रियों के यथार्थ को भी प्रस्तुत किया गया है। दलित जीवन के बहाने सवर्ण समाज के भी यथार्थ को जानने–समझने का अवसर ये आत्मकथाएँ देती हैं। दलित जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और शैक्षिक परिस्थितियों के साथ ही यथास्थिति के विरुद्ध संघर्ष दलित आत्मकथाओं की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। इन आत्मकथाओं ने भारतीय समाज में व्याप्त भेद–भाव के विविध रूपों के विरुद्ध अपना सशक्त प्रतिकार व्यक्त किया है।

1. सामाजिक स्थिति : बहिष्कृत अस्मिता का जीवन

अभिव्यक्ति का प्राथमिक माध्यम प्रायः मूर्त होता है, भौतिक होता है, उसी का प्रभाव अमूर्त पर पड़ता है। फिर उस अमूर्त का प्रभाव भौतिक रूप पर पड़ता है। भौतिक रूप प्राथमिक अवश्य होता है, लेकिन आगे चलकर भौतिक और अभौतिक दोनों परस्पर पूरक हो जाते हैं।

दलित आत्मकथाओं में सबसे पहले प्रायः दलित समाज की भौतिक परिस्थितियों का वर्णन मिलता है। उसी से उनकी जीवन स्थितियों का अनुमान लगता है। भौतिक

परिस्थितियाँ उनकी जीवन स्थितियों को प्रभावित करती हैं और उनका निर्माण करती हैं तथा जीवन–स्थितियाँ भौतिक परिवेश में रूपायित होती हैं। दलितों की सामाजिक स्थिति का विवरण देने से पहले ओम प्रकाश वाल्मीकि अपनी बस्ती के भौतिक परिवेश का वर्णन जिस रूप में करते हैं वह किसी भी सभ्य समाज और विकसित राष्ट्र के लिए लज्जास्पद है––

> ''चारों तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गन्ध कि मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सुअर, नंग–धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण–व्यवस्था को आदर्श–व्यवस्था कहने वालों को दो–चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।''[1]

वर्ण–व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था कहने वाले भी इन सारी परिस्थितियों को जानते–समझते हैं, मगर मानते नहीं। मानेंगे तब जब उन्हें उन विषम परिस्थितियों में जीना पड़े। दलित साहित्य में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' को इसीलिए महत्वपूर्ण माना जाता है। आख़िर किसी दलितेतर रचनाकार की कृतियों में दलित समाज के ऐसे विषम परिवेश का वर्णन क्यों नहीं मिलता ? दलित रचनाओं में, विशेषतः दलित आत्मकथाओं में ऐसे परिवेश की उपस्थिति सामान्य है। उस परिवेश के ही माध्यम से प्रायः लोग दलितों की बस्ती होने का अनुमान भी लगा लेते हैं। 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) में मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं––

> ''हमारी बस्तियाँ नंगी और सपाट होतीं; गंधहीन, पर अजीब–सी दुर्गन्ध परिवेश में फैली होती। घर–घर में चमड़ा भरा होता, आंगन में चमड़े के गीले टुकड़े सूखने के लिए पड़े होते। ऐसी बस्तियों के आस–पास हवा चलती तो महसूस होता, यहीं कहीं चमारवाड़ा है।''[2]

प्रायः हर दलित बस्ती के भौतिक परिवेश की संरचना में यही तत्व शामिल पाये जाते हैं––पाखाना, चमड़ा, सुअर, कुत्ते, कीचड़ भरी गलियाँ, कूड़े के ढेर आदि। ऐसे परिवेश को देखकर लोग धारणा बना लेते हैं कि दलित लोग गंदे ही होते हैं, जबकि यह उनकी विवशता होती है, वर्ना कौन ऐसे परिवेश में रहना चाहता है ! आर्थिक संकट उन्हें

---

1. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 11

2. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 12

साधन–सुविधाओं से वंचित रखते हैं तो सामाजिक प्रतिबंध ऐसे ही परिवेश में जीने के लिए विवश करते हैं। ऐसे ही परिवेश में पला–बढ़ा बच्चा जब शेष समाज के बीच होता है तो उसका आत्मविश्वास साथ नहीं देता और हीनताबोध के कारण वह पहले ही हार मान लेता है। कौसल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा दोहरा अभिशाप में एक महत्वपूर्ण प्रसंग का उल्लेख किया है। उनकी माँ बस्ती वालों को कपड़े में बँधा खून टपकता माँस लाते देखकर टोक देती थीं––

> ''हमारी बस्ती के लोग मांस खरीदकर किसी कपड़े में बाँधकर लाते थे। कपड़े में से सारे रास्ते भर खून टपकता रहता था। देखने में बहुत भद्दा लगता था। माँ को यह देखकर बहुत बुरा लगता था। वह जिसको भी कपड़े में मांस बाँधकर लाते देखतीं, उसे टोक देती थीं। उन्हें समझाती थीं कि किसी डिब्बे या बर्तन में मांस लाया करो, ढककर। लोग यह देखकर कहेंगे कि हम गंदे लोग हैं।''[3]

शेष समाज द्वारा उपेक्षित होने के कारण दलित समुदाय का जीवन क्षेत्र प्रायः सीमित रहता है। इस बँधे हुए परिवेश से इतर जहाँ भी उन्हें खुलेपन का अनुभव होता है, वे हृदय से प्रकृति के साथ जुड़ जाते। मोहनदास नैमिशराय के बचपन का नीम प्रकृति का वह अंग है जिसे उनकी ताई अपने परिवार के सदस्य के रूप में पालती–पोसती है। पौधों में भी संवेदनशीलता होती है, जगदीश चन्द्र बसु की इस खोज का पता उन्हें नहीं होगा, मगर वे यह ज़रूर जानते–मानते थे कि नीम रोता भी है, हँसता भी है। नीम को अपना कहकर वे गर्व का अनुभव करते थे। यह संस्कार उन्हें ताई मां से मिला था––

> ''ताई मां नीम की पूजा करती, मैं भी करता। कभी–कभी नीम का बक्कल (ऊपरी परत) उखड़ जाता। भीतर से लाल मांस–सा निकल आता। मुझे लगता नीम के शरीर से खून बहने लगा है। ताई मां कभी भी नीम को छीलने न देती थी। बराबर उसकी रखवाली करती। वह नीम को घर के सदस्य की तरह मानती थी। नीम से कभी कोई एक पत्ता भी तोड़ता, ताई मां फौरन चिल्ला उठती। शाम ढले और रात में तो नीम से वह किसी को हाथ तक न लगाने देती थी। कोई उसे छेड़ता, तो झट कह उठतीं–– नीम अब आराम कर रहा है। वह सो गया है। उसे मत उठा।''[4]

---

3. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 13

4. अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 14

प्रकृति के प्रति ऐसी घनिष्टता कि मनुष्य को उसके रोने–हँसने, सोने–जागने तक की फिक्र हो, दलित संस्कृति की अद्‌भुत विशिष्टता है। आज के अतीव भौतिकवादी समय में जब जीवन के अस्तित्व का अनिवार्य कारक प्रकृति सबसे उपेक्षित है तो एक दलित आत्मकथा के इस प्रसंग से मानव प्रजाति को प्रेरणा लेनी चाहिए।

प्रकृति के साथ पारिवारिक सदस्य जैसा व्यवहार और विषम सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों के बावजूद परिवार के साथ सामंजस्यपूर्ण सहअस्तित्व दुर्लभ होता है। सबसे पहले तो आर्थिक संकट ही सहअस्तित्व के सामने रुकावट बनकर खड़ा होता है, लेकिन इन परिस्थितियों में भी परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सहयोग का आदर्श कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में दिखाई देता है जहाँ माँ–बेटी, पिता सब मिलकर घरेलू काम निपटाते हैं; यहाँ तक कि बस्ती में भी पारिवारिक सहयोग के कुछ उदाहरण मिलते हैं––

> ''माँ घर की बिछाने–ओढ़ने वाली गोदड़ियाँ कुएँ पर ले गई। मैं छोटी बाल्टी को रस्सी बाँधकर कुएँ में डालकर पानी खींचती और माँ, बड़ी बहन मिलकर उस पानी से कपड़े धोतीं। सबसे छोटी बहन दौड़–दौड़कर उन कपड़ो को घर ले जाती थी और घर में जो बहनें थीं वह घर के बाहर बाँस पर बँधी रस्सी पर, कुछ खाट बिछाकर उस पर कपड़े सूखने को डालती थीं। **xxx** बाबा ने तब तक चूल्हे के लिए लकड़ियाँ कुल्हाड़ी से काटकर एक ओर रख दी थीं। **xxx** बड़ी बहन ने भात और रोटियाँ पकाईं।''[5]

बच्चों में परिवार के प्रति पारस्परिक सहयोग माँ–बाप के कुशल पालन–पोषण से ही संभव होता है, अन्यथा संयुक्त परिवारों में तो वयस्क भी घरेलू काम को लेकर पारस्परिक ईर्ष्या और असहयोग की भावना रखते हैं। माता प्रसाद ने अपनी आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन' में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है जिनमें उनकी पत्नी को घरेलू काम–काज के चलते अपनी देवरानियों–जेठानियों की ईर्ष्या के कारण बहुत कष्ट उठाना पड़ा। एक हृदय विदारक घटना का उल्लेख देखें––

> ''जिस रात डॉ0 एस0पी0 भास्कर पैदा हुआ उस दिन भी वह चैती की दंवाई के

---

5. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 12–13

लिए गेहूं के डांठ को हंसिए से उलट चुकी थी। पेट में बच्चा होने पर घर की औरतों की पटिदारी से ईख की गुड़ाई दोपहर में भी करती रहतीं। xxx इस अवस्था में भी उन्हें सूखी रोटी नमक से खाना पड़ा था। नवें दिन जब वह सौर से बाहर निकलीं तो उनके लिए सरसों पिटाई का हिस्सा छोड़ दिया गया।''[6]

हालाँकि लेखक की पत्नी का उनकी माँ से तथा बहुओं से संबंध सदा आत्मीय और परस्पर सहयोगात्मक ही रहा। तो मानव समाज की सामान्य दुर्बलताएँ दलित समाज में भी हैं, जिनका समाधान किये बिना यह समुदाय सम्यक् विकास नहीं कर सकता। साथ ही परिश्रम जैसी एक अनिवार्य संस्कृति उन्हें परंपरा से ही मिलती है, जिसके रहते हुए इनके अस्तित्व पर कोई संकट नहीं आ सकता।

प्रेम जीव–जगत की प्राचीनत नैसर्गिक प्रवृत्ति है, जिसके बिना उसका अस्तित्व तक संभव नहीं। यहाँ तक कि अजैविक तत्वों (वस्तुओं) में भी पारस्परिक संतुलन उनके अस्तित्व का मूल आधार है। विवाह मानव जीवन की अमरता को बनाये रखने की प्रक्रिया का प्रथम समाज–स्वीकृत अनुशासन है। प्रेम और विवाह परिवार और समाज के विस्तार के अनिवार्य कारक हैं। पारस्परिक प्रेम परिवार–समाज के टिके रहने का मूल आधार है तो विवाह इनके विस्तार का कारक।

दलित आत्मकथाओं में स्त्री–पुरूष प्रेम के कई रूप आये हैं–सजातीय प्रेम, अंतर्जातीय प्रेम, अन्तर्धार्मिक प्रेम, विवाहेत्तर प्रेम, बचपन या किशोरावस्था का प्रेम, युवावस्था का प्रेम आदि। इन सबके बीच गृहस्थ प्रेम को भी शामिल किया जाना चाहिए। इनकी भी कई छवियाँ देखने को मिलती हैं। 'अपने–अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास नैमिशराय के जीवन में सर्वाधिक प्रेम प्रसंग आये हैं।एक तरफ किशोरावस्था में सुभद्रा और बिरजो का प्रेम है, जो थोड़े समय के लिए लेखक को रोमांचित करता है तो दूसरी तरफ युवावस्था की देहरी पर होने वाला रसवंती के प्रति प्रेम,जिसे वह पूरी गंभीरता के साथ मेरठ का पहला और अंतिम प्रेम मानता है। रसवंती के प्रति प्रेम में विफलता ने उसे जीवन की सच्चाइयों का आभास कराया, यह अहसास कराया कि प्रेम में लड़की की बदनामी सबसे बड़ी बात होती है, जिसे कोई भी लड़की स्वीकार नहीं कर सकती। स्वयं लेखक भी इसी कारण मेरठ से बंबई भाग जाता है। किसी और से रसवंती की शादी देखने की उसकी हिम्मत नहीं,

---

6. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ : 43–44

इसीलिए इस प्रेम से डरकर वह बंबई भाग तो आया, मगर यहाँ प्रेम की एक और संभावना उसकी प्रतीक्षा में थी। बंबई में शराब पिलाने वाले दुकानदार की बेटी सूजी कम समय में ही उसके प्रति आकर्षित हो गई, जिसका लेखक को आभास तक न था, मगर यह प्रेम शुरू होने से पहले ही ख़त्म होने की कगार पर तब पहुँच जाता है जब मोहनदास को अचानक वापस मेरठ लौटना पड़ता है। वापस लौटकर भी उसे चैन नहीं; यहाँ विवाहित रसवंती का हँसना–खिलखिलाना उसके घावों को और सालता है। एक बार 'हगनहट' जाते समय रसवंती से लेखक की बातचीत होती है, मगर विवाहित स्त्री की मर्यादा ने उसे अपनी सीमाओं में बाँधे रखा।

अपने–अपने पिंजरे के दूसरे भाग में भी लेखक ने कुछ प्रेम–प्रसंगों का उल्लेख किया है, जिसमें दिल्ली के छात्र–जीवन की तथा एम्प्लॉयमेंट एक्सचेंज ऑफिस की घटनाएँ प्रमुख हैं, मगर यहाँ भी विफलता ही मिली। लेखक के प्रेम–प्रसंगों की बाढ़ से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम के मामले में वह कुछ ज़्यादा ही उदार है, इतना कि अपने से लगभग दोगुनी उम्र की एक विवाहिता के साथ यौन संबंध बनाने को भी वह सहज स्वीकार कर लेता है––

> ''महानगरीय भोग और संभोग की चरम संस्कृति का यह मेरा पहला अनुभव था। न जाने कैसे यह सब हो गया था। उस समय सपने जैसा लगा था। अपने अकेलेपन को एक रात उसने मेरे साथ बाँटा था। हालाँकि वह उम्र में मुझसे दोगुनी थी।''[7]

इस संभोग के लिए लेखक की मौन सहमति चकित करने वाली है, क्योंकि इससे पूर्व के अवसरों पर उसने कभी ध्यान नहीं दिया। सुभद्रा, बिरजो, रसवंती या सूजी के मामले में उसने न तो अवसर ढूँढ़े और न ही दिल्ली के एम्प्लॉयमेंट एक्सचेंज ऑफिस से अपना कॉल लेटर निकलवाने की कोशिश में लगी मजबूर तृप्ति का समर्पण स्वीकार किया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में एकमात्र प्रेम–प्रसंग का उल्लेख है। लेखक के प्रति एक कुलकर्णी ब्राह्मण कन्या सविता आकर्षित है, उसके घर वाले भी सहमत प्रतीत होते हैं, लेखक की खूब आवभगत भी करते हैं। लेखक को भी अरुचि नहीं थी। मगर संकोची स्वभाव और हीनताबोधक पारिवारिक परिवेश की विषम अनुभूतियों से वह मुक्त नहीं हो सका था। यह स्थिति तभी तक रही जब तक कि सविता को उसके ब्राहमण होने का भ्रम था। एक दिन लेखक ने उसके सामने सच कह दिया तो ––

---

7. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–2), पृष्ठ : 88

''वह रोने लगी थी। मेरा एस0सी0 होना जैसे कोई अपराध था। वह काफी देर सुबकती रही। हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। हजारों साल की नफरत हमारे दिलों में भर गई थी। एक झूठ को हमने संस्कृति मान लिया था।''[8]

जाति पता चलते ही न जाने क्यों सारी अच्छाइयाँ ख़राबियों में बदल जाती हैं ! प्रेम जैसी नैसर्गिक प्रवृत्ति भी जाति देखकर अपना रास्ता बदल लेती है। हाँ, यह ज़रूर है कि प्रेम के नाम पर वासना पूरा विस्तार पाती है। प्रायः हर आत्मकथा में सवर्णों द्वारा दलित स्त्रियों के शोषण के प्रसंग भरे पड़े हैं। यही नहीं, कहीं–कहीं तो सवर्ण स्त्रियों के दलित पुरुषों से संबंध का भी उल्लेख मिलता है। 'तिरस्कृत' में सूरजपाल चौहान के चाचा गुलफान से एक ठकुराइन के संबंध का उल्लेख लेखक ने किया है।

दलित आत्मकथाओं में उल्लिखित स्त्री–पुरुष के वैध–अवैध सम्बन्धों से यही निष्कर्ष निकलता है कि यौन भावना पर किसी प्रकार का कोई नियंत्रण असंभव है। जातिवाद 'हुक्का–पानी' पर तो प्रतिबंध लगाने में समर्थ है, मगर स्त्री–पुरुष यौन संबंधों पर नहीं।

'दोहरा अभिशाप' की आत्मकथाकार कौसल्या बैसंत्री ने भी सजातीय पुरुषों का स्वयं के प्रति और अपना उनके प्रति आकर्षण उल्लिखित किया है, लेकिन यह आकर्षण भी अधिक दूर न जा सका। बल्कि एक सखाराम के सन्दर्भ में तो दहेज के कारण विवाह होते–होते रह गया। तो प्रेम विवाह में जाति के अलावा दूसरी बड़ी रुकावट दहेज है, जो दलित समाज में भी काफी मजबूत स्थिति में है।

विवाह के बाद की गृहस्थ परिस्थितियों की अभिव्यक्तियाँ भारतीय समाज में विवाह–सम्बन्धों को लेकर व्याप्त आदर्शों, रूढ़ियों, समस्याओं आदि का व्यापक संकेत देती हैं। विवाह संस्था का मूल उद्देश्य है स्त्री–पुरुष की जैविक आवश्यकता की पूर्ति तथा संतोनोत्पत्ति, जबकि विवाह को दो परिवारों के बीच सम्बन्ध के रूप में प्रचारित किया जाता है। मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) में अपने भाई की नपुंसकता के कारण भाभी के पिता द्वारा अन्य के साथ उन्हें भेजने का उल्लेख किया है। भाभी के पिता का यह तर्क कि ––

''म्हारी बेट्टी बूढ़ी हो जावेगी तब तक उसका इलाज ही चलता रहवैगा''[9]

8. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 117
9. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 102

और इसके बाद बेटी को अन्य के साथ भेज देना इस बात का संकेत है कि दो परिवारों का संबंध विवाह की अनिवार्यता नहीं, बल्कि पति–पत्नी का संबंध समाज में अनिवार्य रूप से स्वीकृत है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर कितनी विकट स्थिति उत्पन्न हो सकती है, इसका उदाहरण 'जूठन' में मिलता है। लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि की चाची जल्दी विधवा हो गईं तो उनका सम्बन्ध पति के ही किसी भाई से हो गया, जिस पर लेखक के पिता ने उन्हें मारा–पीटा और मायके भेज दिया।

दलित आत्मकथाओं में कुछ उदाहरण आदर्श पति–पत्नी के भी हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि और उनकी पत्नी चन्दा, डी0 आर0 जाटव और उनकी पत्नी तथा माता प्रसाद और उनकी पत्नी लखराजी देवी इसके उदाहरण हैं। माता प्रसाद ने दलित पुरुषों की सफलता का पूरा श्रेय पत्नियों को दिया है––

> ''जब हम कुछ नहीं थे तब अपढ़ पत्नी ने मजदूरी करके घर का सारा कार्य करते हुए, कष्ठ उठाया। हमारे लोग–पढ–लिखकर अच्छे स्थान पर पहुँच गए तो उस पत्नी का बहिष्कार कर देते हैं। इससे उसके मन पर क्या गुजरती होगी यह विचारने की बात है। मेरा तो विश्वास है कि मैं जो कुछ हूँ, समाज में जो कुछ भी सम्मान मिला है, वह मेरी पत्नी की त्याग–तपस्या का ही परिणाम है।''[10]

माता प्रसाद ने दलित समाज की उस कड़वी सच्चाई की ओर इशारा किया है जिसे कोई स्वीकार नहीं करता। समाज में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिसमें अच्छी नौकरी या व्यवसाय या राजनीति में सफल होने के बाद दलित पुरुष अपनी पूर्व पत्नी को छोड़कर या उसके भरण–पोषण के लिए नाम–मात्र की धनराशि देकर दूसरा विवाह कर लेता है। कुछ तो पत्नी को जबरन घर से निकाल देते हैं। दलित समुदाय को जिस सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता है वह तभी संभव है जब वह स्वयं अपनी दुर्बलताओं को दूर कर ले।

जाति हिन्दू समाज की वह जड़ है जो इसे पोषण देने के बजाय पूरी भारतीय संस्कृति में ज़हर पहुँचाने का काम कर रही है। लेकिन यह ज़हर लोगों को प्रिय है। भारतीय समाज अपनी इसी विशेषता के लिए जाना जाता है। भारतीय समाज और संस्कृति की प्राचीनता और अक्षुण्णता का दावा करने वालों को जान लेना चाहिए कि यह प्राचीनता व अक्षुण्णता

---

10. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ : 45

केवल इसकी जाति व्यवस्था में शेष है।

मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख किया है जिसे पढ़कर आश्चर्य होता है कि भारतीय समाज के व्यक्ति के लिए जाति अकारण ही इतनी महत्वपूर्ण क्यों है ! बचपन में मामा की बारात बैलगाड़ी से रात में निकली, हर एक–दो घंटे बाद अपरिचित राहगीर मिलते रहे और बिना किसी भूमिका के सीधे एक ही सवाल पूछते रहे; 'कौन जात हो', और लेखक के नाना वही जाति बता देते जिसका वर्चस्व उस क्षेत्र में होता। अगर ऐसा न करते तो उनके साथ मार–पीट भी हो सकती थी क्योंकि–

> ''हिन्दू समाज में आदमी की कीमत उसकी जात से ही आँकी जाती थी। हमें विशेष तौर पर चमार–चूहड़े नाम से संबोधित किया जाता था। पर उनके संबोधन के तौर–तरीके और भी घृणास्पद हुआ करते थे। उनके द्वारा कहे गए एक–एक शब्द हमारे शरीर को छीलते थे। बीच–बीच में वे गालियाँ भी देते थे। हिंदू धर्म तथा संस्कृति की अमानवीय परंपरा से जुड़ी अजीबो गरीब अश्लील गालियाँ। जिन्हें हमें सुनना ही पड़ता था।''[11]

हिन्दू समाज में लोग प्रायः जाति के आधार पर अच्छा या बुरा व्यवहार करते हैं। सवर्ण के साथ अच्छा व्यवहार तथा दलित के साथ बुरा व्यवहार पूर्व निर्धारित रहता है। इस समाज में दलितों की स्थिति सदा से उपेक्षित ही रही है, जिसका व्यापक प्रमाण दलित आत्मकथाओं में भी उपलब्ध है। दलितों की त्रासद सामाजिक स्थिति और सवर्ण समाज द्वारा उनके प्रति निराधार कारणों से किये जाने वाले भेद–भाव और अन्याय अत्याचार को जानकर भारतीय या जातिवादी संस्कृति से अपरिचित व्यक्ति आश्चर्यचकित रह जाएगा।

अगर अनजाने में किसे दलित के प्रति अच्छा व्यवहार हो भी गया तो बाद में जाति पता चलने पर उसे 'सुधार' लिया जाता है। ऐसी ही एक घटना का उल्लेख ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन में मिलता है। दसवीं में पढ़ने के दौरान एक बार लेखक अपने दोस्त के साथ मास्टर बृजपाल सिंह त्यागी के घर देवबंद गेहूँ लेने गया। वहाँ दोनों को बड़े सम्मान के साथ घर में बैठाकर भोजन कराया गया। लेखक तो भय और आशंका के कारण ठीक से खा नहीं पा रहा था, लेकिन दोस्त भिक्खूराम ने खूब खाया। खाना

---

11. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–2) पृष्ठः 22

खाकर दोनों बाहर आए। इस बीच एक और आदमी वहाँ आ गया। उसने इन दोनों के बारे में पूछताछ शुरू कर दी। जाति पूछने पर लेखक के मुँह से 'चूहड़ा' निकल पड़ा । बस, फिर क्या था––

> ''उन दोनों के मुँह से एक साथ निकला था, 'चूहड़ा' बुजुर्ग ने चारपाई के नीचे पड़ी लाठी उठाकर तड़ से मार दी थी, भिक्खूराम की पीठ पर। हाथ तगड़ा था। भिक्खूराम बिलबिला गया था। बुजुर्ग के मुंह से अश्लील गालियाों की बौछार होने लगी थी। आँखें भयनक लग रही थीं। दुबले–पतले शरीर में शैतान उतर आया था। उनके बर्तनों में आदर के साथ बैठकर खाना खाने, चारपाई पर बैठने का दुःसाहस किया था, जो उनकी नजर में अपराध था। मैं सहमा हुआ चबूतरे के नीचे खड़ा था। बुजुर्ग चिल्ला रहा था जिसे सुनकर भीड़ जमा हो गई थी। कई लोगों की राय थी रस्सी से बाँधकर दोनों को पेड़ पर लटका दो।''[12]

इसी प्रकार मोहनदास नैमिशराय ने भी अपने बचपन की एक ऐसी घटना का उल्लेख किया है जिसे पढ़कर सभ्य कहे जाने वाले समाज के प्रति मोह भंग हो जाता है। मोहनदास अपने बड़े भाई के साथ बहन को लिवाने उसके मायके जा रहे थे। गर्मियों की धूप में पैदल चलने के कारण प्यास लग आई थी। एक जगह पानी माँगने पर सबसे पहले जाति पूछी गई और 'चमार' जाति सुनकर पानी देने से इनकार कर दिया गया। थकान, गर्मी और प्यास के कारण चलना असंभव होता जा रहा था, लेकिन पानी की खोज में चलना ज़रूरी था। थोडी ही दूर पर एक जोहड़ दिखाई पड़ा।

> ''जोहड़ में गंदा पानी था। मैं उस तरफ ही बढ़ गया। प्यास से मेरा बुरा हाल था। मैं भइया के मना करने के बाद भी ढलान में पानी की ओर उतर गया। सामने ही उसी जोहड़ के पानी में गर्मी से बचने के लिए अपनी टांगें सिकोड़े दो–तीन भैंस बैठी थीं। पर मुझे उसकी चिंता न थी। प्यास ने मुझे पागल बना दिया था। उस समय मेरे लिए साफ और गंदे पानी में कोई भेद न था।''[13]

अधिकांश भारतीय ज्योतिषी जैसा व्यवहार करते हैं। पहले तो वे किसी व्यक्ति को देखकर स्वयं उसके भूत–वर्तमान–भविष्य का अनुमान लगाते हैं, फिर अनुमान को

---

12. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 65–66

13. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 69

सुनिश्चित करने के लिए पूछ भी लेते हैं। किसी की जाति के बारे में भी लोग पहले अनुमान लगाते हैं, फिर किसी–न–किसी बहाने से पूछ भी लेते हैं। राजेन्द्र यादव लिखते हैं––

> ''हिन्दू–समाज में जाति कुछ वर्णों के लिए आत्मा पर लटका तमगा है तो कुछ के लिए 'दागना'। मुक्त दोनों नहीं हैं––दोनों इस दागने और दागीने (अलंकार) के अहसास को जिन्दगी के हर आचार–व्यवहार में जीते हैं––कभी सचेत और कभी अनजाने–– यह सही है कि अमरीकी नीग्रो की तरह भारतीय अवर्ण दूर से ही नहीं दिखाई देते। आधुनिकता और औद्योगीकरण में वे आसानी से घुल–मिल जाते हैं। मगर पूछताछ तो हर जगह है और इसमें शायद ही कोई अपने को बचा पाता हो; फौरन 'पकड़ा' जाता है।''[14]

ऐसी स्थिति में भारतीय समाज की 'अतिथि देवो भवः' की अवधारणा खोखली साबित होती है। वास्तव में आतिथ्य भी जाति के आधार पर ही मिलता है। ऐसी ही एक घटना का उल्लेख दलित आत्मकथाकार रूपनारायण सोनकर ने भी किया है। हाईस्कूल की पढाई के दौरान एक शाम वे अपने बड़े भाई के साथ भारी बरसात में साइकिल लेकर पैदल ही घर लौट रहे थे। बरसात से बचने के लिए एक घर के बरामदे में खड़े हो गए तो घर के मालिक ने उनसे रात वहीं गुज़ारने का आग्रह किया। बड़े भाई के मना करने पर घर के मालिक मिश्रा जी बोले––

> ''भारतीय संस्कृति और सभ्यता यह कहती है कि यदि शाम के वक्त कोई थका–मांदा राहगीर घर आ जाए तो उसे बिना खाना खिलाए एवं विश्राम कराए घर से नहीं जाने देना चाहिए।'' xxx हम लोग हाथ–मुँह धोकर खाना खाने ही वाले थे कि पंडित जी की माँ ने पूछा, ''भइया आप लोग कौन जात के हो।''
>
> भइया बोले–''माँ जी हम लोग खटिक हैं। मैं एक अफसर हूँ और भाई मेरा दसवीं में पढ़ रहा है।''
>
> इतना सुनते ही पंडित जी ने हम लोगों के सामने जो थाली खाने के लिए रखी थी तुरन्त उठाकर रसोईघर ले गए xxx उनकी माँ चिल्लाते हुए बोली–''राम–राम सारा घर भ्रष्ट कर दिया। इन अछूतों को घर में घुसाने की क्या जरूरत थी?''[15]

---

14. राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ : 33

15. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 23–24

दोनों भाइयों को भारी बरसात में घर से बाहर निकाल दिया गया। उनके सामने ही मिश्रा जी की माँ ने घर में और चारपाइयों पर गंगाजल छिड़क कर शुद्ध किया। विचित्र पाखण्ड है हिन्दुओं का ! पहले आतिथ्य का गुणगान किया, स्वयं आग्रह करके अतिथियों को रोका, और स्वयं ही अपने आदर्शों को भूलकर उन्हें अपमानित कर घर से निकाल दिया।

इतने वैज्ञानिक विकास के बाद भी हिन्दू समाज जातिवाद और छुआछूत की हास्यास्पद रूढ़ियों को ढो रहा है। दलित आत्मकथाएँ ऐसी हास्यास्पद रूढ़ियों का दस्तावेज हैं। हिन्दू समाज में व्याप्त अस्पृश्यता से व्यथित ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं––

> ''अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते–बिल्ली, गाय–भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था।''[16]

यह सच है कि कुत्ते–बिल्ली, गाय–भैंस वगैरह जानवर अस्पृश्य नहीं माने जाते, लेकिन तभी तक जब तक वे सवर्णों के पालतू हों। दलितों के पालतू होकर तो जानवर भी अस्पृश्य हो जाते हैं। ऐसे अस्पृश्य जानवरों से सवर्णों के जानवरों तक को छूत लग जाती है। सूरजपाल की माँ ने एक ठाकुर की पंड़िया बँटाई पर ली थी। एक बार पंड़िया नहर में पानी पी रही थी, उसकी ओर से बहकर आया हुआ पानी ठाकुर के बैल ने पी लिया तो––

> ''ठाकुर ने भद्दी गाली देते हुए मुझसे कहा–''भैंचो भंगिया के, तेरी पंड़िया को जूठौ पानी मेरे बद्द (बैल) पिएंगे..... ठहर में अभई आयौ।'' ठाकुर हाथ में अरहर की लम्बी और मजबूत संटी लिये पास आ गया। मैं कुछ समझूँ कि उससे पहले ही उसने दाँत पीसते हुए तड़ातड़ संटियों की बरसात कर दी। xxx माँ हैरान होकर मुझे देखे जा रही थी कि इतने में जय सिंह हाथ में संटी लिये वहाँ आ पहुँचा और आग–बबूला होते हुए माँ से बोला––''अशरफिया, तेरे जा छोरा ने अपनी पंड़िया को जूठौ पानी मेरे बद्दों कू पिला दीनौ....आज तो मैंने छोड़ दियो, फिर याने ऐसी हरकत करी तो ठौर मार दूँगौ।''[17]

---

16. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 12

17. सूरजपाल चौहान, संतप्त, पृष्ठ : 23

इसी तरह एक बार बचपन में गलती से लेखक ने पंडित हरचरन की साइकिल छू दी तब भी उसने संटियों से पिटाई की थी, गालियाँ दी थीं––

> ''बहिनियाँ के टीटना, मेरे साले भंगिया के, मेरी साइकिल छूकर अपवित्र कर दीनी....जिन्दो नायँ छोडूगौ तोय।''[18]

हालांकि कई साल बाद पोता बीमार होने पर वही पंडित गिड़गिड़ाते हुए जब लेखक से मदद माँगने आया तो वह अपनी कार पर बैठाकर अस्पताल ले गया। इतना अपमान और अत्याचार सहने के बाद भी ऐसा उदार प्रतिकार दलित समाज की ही संस्कृति है।

हिन्दू समाज में इस हद तक छुआछूत व्याप्त था कि दुकानदार दलितों के हाथ से पैसे न लेकर उसे पानी के तसले में डलवाते थे, और धुल जाने के बाद चिमटे से निकालते थे, नाई दलितों के बाल नहीं काटते थे, दुकानदार अपना सामान नहीं छूने देते थे कि कहीं अन्य ग्राहक सामान लेने से इनकार न कर दें। छुआछूत की यह स्थिति दलित स्त्रियों के प्रति वासना के प्रसंगों में नहीं थी। यौन शोषण के लिए दलितों की स्त्रियों के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार नहीं किया जाता था।

दलितों के प्रति सामाजिक भेद–भाव इतना ज़्यादा था कि सबके प्रति समानता का दावा करने वाले (निम्न पेशों में संलग्न) इस्लाम धर्मावलम्बी भी इनके प्रति सवर्णों जैसे ही अपमानजनक व्यवहार करते थे। ये मुसलमान भी उच्चवर्गीय सैयद, शेख, पठान आदि नहीं, बल्कि जुलाहे, कलाल, कसाई, अंसारी आदि ही थे। दरअसल धर्म परिवर्तन के समय ऐसे लोग हिन्दुत्व के बाहरी कर्मकाण्डों से तो मुक्त हो गए, मगर जातिवाद के ज़हर से मुक्त नहीं हो सके। सवर्ण समाज का अपवादस्वरूप ही कोई व्यक्ति छुआछूत के व्यवहार से मुक्त था। कुछ दलित आत्मकथाकारों ने ऐसे भी लोगों और प्रसंगों का उल्लेख किया है जिन्होंने उनके प्रति सम्मान जताया तथा समानता का व्यवहार किया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने बचपन से लेकर मृत्युपर्यंत जाति का दंश सहा जिसके कारण सवर्ण समाज के प्रति उनके मन में घृणा है, मगर वे ऐसे सवर्णों का उल्लेख अपनी आत्मकथा में ज़रूर करते हैं जिन्होंने उनके प्रति अच्छा व्यवहार किया। छठीं कक्षा में श्रवण कुमार शर्मा से घनिष्ट मित्रता ओम प्रकाश वाल्मीकि के लिए एक अलग अनुभव था। गूजर

---

18. वही, पृष्ठ : 26

जाति का चन्द्रपाल वर्मा भी उनका अच्छा मित्र था। इतिहास के अध्यापक योगेन्द्र त्यागी की विद्वता की भी लेखक ने प्रशंसा की है। वे लेखक के पिता से अक्सर कहते थे––'छोटन, अपने लड़के को पढ़ने से मत रोकना; हालाँकि भंगियों के सुअर खाने के प्रसंग को लेकर वे अक्सर कक्षा में लेखक के प्रति अपमानजनक व्यवहार भी करते थे। भाषा के प्रति रुचि विकसित करने, उसे सुधारने, मार्गदर्शन आदि के लिए लेखक ने बरला के हिंदी अध्यापक बाबूराम त्यागी की प्रशंसा की है। सबसे महत्वपूर्ण है वह प्रसंग जब ओमप्रकाश वाल्मीकि के दसवीं पास होने पर चमनलाल त्यागी ने घर आकर न केवल बधाई दी बल्कि अपने घर बुलाकर आत्मीयता के साथ बैठाकर अपने बर्तनों में खाना खिलाया था। समाज में व्याप्त कट्टर अस्पृश्यता के परिवेश में इस व्यवहार ने लेखक को भावुक कर दिया था––

> ''खाना खाकर मैं जूठे बर्तन उठाने लगा, तो उन्होंने मुझे रोक दिया और अपनी बेटी को आवाज दी, ''भैया के बर्तन उठाकर ले जा।'' वह आकर जूठे बर्तन ले गई। उनके इस व्यवहार ने मेरी आँखें नम कर दी थीं। मैं भावुक हो उठा था। उस क्षण प्रताड़ना और उपेक्षा भरे माहौल में ऐसे व्यवहार की उम्मीद ही कहाँ थी।''[19]

जातिवाद के भेद–भाव से इतर दलित के प्रति किसी सवर्ण का ऐसा विनम्र व्यवहार ऐसे समाज में दुर्लभ अवश्य है, असंभव नहीं। अन्य दलित आत्मकथाकारों ने भी ऐसे सवर्णों के प्रशंसा वाले प्रसंगों का उल्लेख किया है। 'मेरा सफर, मेरी मंजिल' के लेखक डी0आर0 जाटव ने अपने शोध–निर्देशक डॉ0 बी0जी0 तिवारी की विद्वता के साथ–साथ उनकी उदारता की भी प्रशंसा की है––

> ''वह बहुत ही योग्य प्रोफेसर, एम0ए0 (दर्शन, अंग्रेजी) एल0टी0, एल0एल0बी0, पी–एच0डी0 तथा डी0 लिट्0 थे। वह कानपुर में वकालत भी कर चुके थे। वह कई पुस्तकों के रचयिता भी थे। डॉ0 तिवारी अंगेजी भाषा के मर्मज्ञ और बाबा साहेब अम्बेडकर के दार्शनिक विचारों से भलीभांति परिचित थे। xxx जब मैंने जबलपुर से आने की इच्छा जाहिर की तो उन्होंने मुझे उतना धन भी दिया जो आने–जाने के खर्चे के लिए पर्याप्त था।''[20]

घोर जातिवाद समाज में अपनी सार्थकता बरकरार रखने में समर्थ ऐसे व्यक्ति और

---

19. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 75
20. डी0आर0 जाटव, मेरा सफर, मेरी मंजिल, पृष्ठ : 34

उनके संदर्भ–प्रसंग विरल भले हैं, लेकिन नये सामाजिक बदलाव और भारत के विकास की संभावना को बरकरार रखते हैं। लेकिन जातिवाद का ज़हर समाज में इतनी गहराई तक धँस गया है कि जिस तरह अपवादस्वरूप कुछ ही सवर्ण उससे बच सके हैं, उसी तरह अपवादस्वरूप कुछ दलित ऐसे भी हैं जो स्वयं दलितों के भीतर व्याप्त पारस्परिक जातिवाद और रूढ़िवाद की संभावनाओं को और मजबूत करते हैं। मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–2) में लिखते हैं कि अपना उल्लू सीधा करने के लिए समाज को जातियों में बाँटने का काम ब्राह्मणों ने ज़रूर किया है, मगर आज पढ़–लिखकर भी हम इससे छुटकारा नहीं पाना चाहते और कूपमंडूक बने हुए हैं। बल्कि वे दलित राजनेताओं की स्वार्थवश तटस्थता की भी आलोचना करते हैं, जबकि स्वयं दलितों के बीच पारस्परिक जातिवाद इतना मजबूत है कि उनमें भी एक ब्राह्मणवादी वर्ग पैदा हो गया है। इसी कारण सवर्ण भी आलोचना करते हैं कि पहले अपने भीतर का जातिवाद ख़त्म करो, फिर हमसे मुकाबला करो। जाटवों और वाल्मीकियों के पारस्परिक जाति भेद को उजागर करते हुए वे लिखते हैं––

> ''हमारी जात के घरों में भी सफाई करने वाले/सफाई करने वाली आती थीं, जिन्हें अन्य की तरह हम भी अबे ओ भंगी के, अरी ओ भंगन....आदि–आदि नामों से पुकारने में अपना बड़प्पन समझते थे। उन्हें बात–बात पर गालियाँ भी दे देते थे। हमारे घरों में जब किसी की मृत्यु हो जाती तो मृतक के अन्य कपड़े, सामान आदि उन्हें दिये जाते थे। शादी–विवाहों के अवसरों पर उनकी स्थिति दीनहीनता से भरपूर और विचित्र बन जाती थी। जब सभी लोगों का भोजन समाप्त हो जाता था तब टोकरा, सिलवर की परात, गिलास आदि लिए वे भिखमंगे की तरह इंतजार करते थे। XXX हमारी जात के लोग उन्हें कुत्ता/बिल्ली समझ कर डाँटते/फटकारते तथा भगाते। पर वे वहीं जमी रहतीं। एक–एक मुट्ठी चावल के लिए घंटों–घंटों खुशामद कर पाँवों को हाथ लगातीं।''[21]

बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक आंदोलन के उत्तर भारत में प्रसार–प्रचार से पहले तक यहाँ के चमारों और भंगियों के बीच या अन्य विभिन्न दलित जातियों के बीच पारस्परिक समरसता के बजाय घृणा तथा ईर्ष्या ही अधिक थी। दलितों में व्याप्त इस

---

21. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–2),पृष्ठ : 67

पारस्परिक घृणा व ईर्ष्या का कारण जातिवाद के अलावा कुछ और भी था, वह है हीन भावना से मुक्ति की लालसा। वर्चस्वशाली सवर्णों के सामने अन्य जातियाँ स्वयं को हीन अनुभव करती हैं, जिससे मुक्त होने के प्रयास में वे किसी–न–किसी अन्य जाति को स्वयं से नीचे मान लेती हैं। लेकिन विडंबना यह है कि भंगी जाति दलितों में भी सबसे नीचे मानी जाती है। पारस्परिक व्यवसायों में लगी अन्य दलित जातियाँ भंगियों से दूरी इसलिए भी बनाती रहीं हैं कि सवर्ण उनसे अपना काम करवाना बंद न कर दें, उनका व्यवसाय ठप न हो जाए। ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में ऐसे ही एक प्रसंग का उल्लेख मिलता है। धोबी ने उनकी स्काउट वर्दी पर इस्तरी करने से इसलिए इनकार कर दिया कि कहीं त्यागी उससे इस्तरी कराना न छोड़ दें––

> ''अबे, चूहड़े के किंधे घुसा आ रहा है ?'' xxx ''हम चूहड़े–चमारों के कपड़े नहीं धोते, न ही इस्तरी करते हैं। जो तेरे कपड़े पे इस्तरी कर देंगे तो तगा हमसे कपड़े न धुलवाएँगे, म्हारी तो रोजी–रोट्टी चली जागी...''[22]

हीनता बोध से मुक्ति का थोड़ा सा प्रयास, स्वयं को अन्य से ऊँचा मानने की कल्पना, अपने व्यवसाय को बचाये रखने का भय आदि कई बातें मिलकर ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करती थीं कि दलितों के भीतर भी पारस्परिक जातिवाद मजबूत हो जाता था। 'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौसल्या बैसंत्री अपनी बस्ती में महार–माँग–भंगी के बीच जाति भेद के संदर्भ में लिखती हैं––

> '' माँग जाति के लोगों से महार लोग छूतछात बरतते थे। उनके हाथ का छुआ पानी और खाना फेंक देते थे। xxx हम घर के बाहर उनके बच्चों के साथ घुल–मिलकर खेलते थे, परंतु उनके साथ न खाते–पीते थे और न उनके घर के अंदर जाते थे। वे भी हमारे घर के अंदर नहीं आते थे। xxx सफाई कर्मचारियों से भी छूतछात बरतते थे। उनके यहाँ कोई नहीं जाता था। न उनके बच्चे हम लोगों के साथ खेलने आते थे।''[23]

---

22. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 22

23. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 31

नाई द्वारा भंगी–चमारों के बाल न काटने का उल्लेख सूरजपाल चौहान ने भी अपनी आत्मकथा 'संतप्त' में किया है। गाँव की बस्ती के भंगियों और जाटवों की लड़ाई का भी उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। वे जातिवाद का विरोध करने वाले दलित बुद्धिजीवियों तक में व्याप्त जातिवादी भावना का उद्घाटन भी करते हैं––

''कितनी हैरानी की बात है कि हिन्दी क्षेत्र के अधिकतर दलित साहित्यकार भंगी और चमार लेखकों द्वारा किए लेखन को ही दलित साहित्य मानकर बैठे हुए हैं। इस समाज के अन्य वर्गों से उभरते लेखकों को नजदीक नहीं आने देते। XXX हिन्दी के कई दलित लेखक दिन–रात छुआछूत और ऊँच–नीच के विरोध में लिखते और बोलते हैं। लेकिन आकण्ठ जातिवाद में सराबोर हैं।''[24]

सूरजपाल चौहान उस घटना का भी उल्लेख करते हैं जब 1998 में 'इंडिया टुडे' के एक अंक में चमारों–भंगियों के पारस्परिक जातिवाद को उजागर करने वाली ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'शवयात्रा' प्रकाशित हुई तो दलित लेखकों के एक गुट में हड़कम्प मच गया, जबकि उसी गुट के लेखक श्यौराज सिंह बेचैन (चमार) ने जब 'भरोसे की बहन' कहानी में बी0एस0पी0 नेता बहन मायावती की आलोचना की तो सब मौन रहे। लेकिन इन दलित आत्मकथाओं में विभिन्न दलित जातियों के बीच व्याप्त पारस्परिक जातिवाद के उदाहरण अपवाद स्वरूप ही हैं। ऐसे उदाहरण अधिक हैं जहाँ दलित जातियाँ पारस्परिक भेद–भाव को भूलकर संकट के समय एक–दूसरे के साथ खड़ी दिखाई देती हैं।

लगभग सारी दुनिया में स्त्री दोयम दर्जे की इंसान है। भारत में उसकी स्थिति और भी बद्तर है। लेकिन भारतीय समाज में सबसे बुरी दशा दलित स्त्री की है। यहाँ उसे दुहरे–तिहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है। एक तरफ वह पुरुषवाद तथा जातिवाद के शोषण का शिकार है तो दूसरी तरफ उसे सवर्ण स्त्री के भी शोषण का शिकार होना पड़ता है। इस तरह वह सर्वहारा की भी सर्वहारा और दलित की भी दलित है। लेकिन आज की दलित स्त्री न केवल सवर्ण पुरुषवाद का डटकर मुकाबला कर रही है, बल्कि वह दलित पुरुषवाद का भी विरोध कर रही है। विमाल थोरात लिखती हैं––

''दलित स्त्री अब दलित वर्ग के भीतर की पितृसत्ता के खिलाफ भी गोलबंद हो रही

---

24. सूरजपाल चौहान, संतप्त, पृष्ठ : 67–68

है। उसकी अस्मिता का संघर्ष दोहरा, तिहरा है और मुक्ति की तलाश अधिक जटिल है।''[25]

हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में स्त्रियों की स्थिति का यथार्थ चित्रण मिलता है। पुरुष की किसी भी दुष्प्रवृत्ति का शिकार सबसे पहले स्त्री होती है––चाहे वह उसकी काम वासना हो, उसके परिवार के किसी पुरुष से बदले की भावना हो, अपने पुरुषत्व के छद्म अहंकार की तुष्टि हो या समाज में वर्चस्व मात्र का प्रदर्शन हो। मोहनदास नैमिशराय 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) में इस बात का उल्लेख करते हैं कि मराठा, मुगल, पठान, अंग्रेज हर आक्रमणकारी ने दलित स्त्रियों का अपहरण किया। वर्तमान में भी दलित स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं हैं, न सवर्ण पुरुषों से, न दलित पुरुषों से; इसका विस्तृत उल्लेख 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–2) में मिलता है––

''अस्मत लुटाई हुई महिला की ताक–झाँक बस्ती के मर्द भी करते थे। स्साली बाहर वालों से तो नुचवा आई और अपनों से.....उसके दर्द को टटोलने का कोई प्रयास नहीं करता था। हाँ, उसके अंगों की गोलाई मोटाई गहराई सभी नापते थे। यही कारण था कि हमारी बस्ती में अपने–अपने फलान उठाये तथाकथित नवाब/जमींदार/काश्तकार, ऐसी औरतों के घर आ धमकते और सरेआम अपना रुआब गाँठते।''[26]

'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–2) की दलित स्त्रियाँ अपने घरेलू काम–धंधे निपटाकर अपनी–अपनी टोलियों के साथ इकट्ठी हो जाती थीं; वहीं हँसी–ठिठोली होती, अश्लील–मज़ाक होते, सब एक–दूसरे से अपने दुख कहतीं और उनका समाधान सुझातीं, मगर पुरुषों के सामने एकदम चुप––

''अपने–अपने खूंटे से बंधी गाय–भैंसों से बढ़कर उनकी स्थिति न थी। पुरुषों के खिलाफ तो वे कुछ बोल ही नहीं सकती थीं। इसलिए सुनकर एक–दूसरे का मन रखने के लिए अपने–अपने तर्क दे देती थीं।''[27]

---

25. विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृष्ठ : 10

26. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–2), पृष्ठ : 27

27. वही, पृष्ठ : 23

लेकिन इस स्थिति के बावजूद दलित स्त्रियाँ सवर्ण स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र थीं। आधुनिक तथा उत्तर–आधुनिक समय में जिन सामाजिक परिस्थितियों को आज प्रगतिशीलता के नाम पर प्रचारित –प्रसारित कर सवर्ण समाज अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है, वे सब दलित समाज में हमेशा से प्रचलित रही हैं। विधवा–विवाह, तलाक, पुनर्विवाह, बिना विवाह के भी दाम्पत्य की सामाजिक स्वीकृति आदि प्रथाएँ इस समाज की प्रगतिशीलता सिद्ध करती हैं। ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख दलित आत्मकथाओं में आता है।

'अपने–अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास नैमिशराय के भाई जानकी प्रसाद के नामर्द होने की स्थिति में भाभी के मायके वालों ने कुछ वर्ष इंतजार करने के बाद उसे अन्य पुरुष के साथ विदा कर दिया। 'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि के भाई सुखवीर के निधन के बाद डेढ़ साल के एक बेटे की माँ और गर्भवती भाभी का विवाह छोटे भाई जसवीर से कर दिया गया––

> ''हमारी बिरादरी में विधवा–विवाह को प्रारंभ से ही मान्यता थी। हिन्दू–परम्पराओं की तरह विधवा–विवाह हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था। रिश्तेदारों, गाँव के बुजुर्गों की मौजूदगी में मेरे दिवंगत भाई सुखवीर के ससुर ने अपनी विधवा बेटी का रिश्ता सुखवीर से छोटे जसवीर से तय कर दिया था, जिसे सामाजिक तौर पर सभी ने स्वीकृति दी थी।''[28]

यह महत्वपूर्ण है कि दलित समाज में परंपराओं के बहाने झूठे अहंकार की तुष्टि के लिए किसी के जीवन को कष्टपूर्ण नहीं बनाया जाता। विवाह तथा स्त्री–पुरुष संबंध जैसे संवेदनशील विषयों में वही निर्णय लिये जाते हैं जो अधिकांश के हित में हों। हाँ, यह अवश्य है कि एम0एन0 श्री निवास की समाजशास्त्रीय अवधारणा के अनुसार जिन दलितों का 'संस्कृतिकरण' हो गया है । उनमें ऐसी प्रथाएँ लगातार कम होती जा रही हैं। इस संदर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस प्रकार के विवाहों को अन्य पिछड़ी जातियों में भी मान्यता प्राप्त है। इन तथ्यों का आशय यही है कि प्रायः सवर्ण समुदाय (ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य) ही अधिक रूढ़िवादी रहा है।

दलित आत्मकथाओं के माध्यम से दलित समाज में प्रचलित छिट–पुट प्रेम विवाहों का

---

28. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 22–23

भी उल्लेख मिलता है। स्वयं ओम प्रकाश वाल्मीकि ने घरवालों द्वारा तय लड़की के बजाय अपनी पसन्द से विवाह किया था। 'तिरस्कृत' के लेखक सूरजपाल चौहान की मौसी चमेली उनके ताऊ सरूपा (सांग मंडली के जोकर (भँड़ेले)) के साथ भागकर आई थीं। हालांकि प्रेम–विवाह तब भी अत्यंत कठिन था। मोहनदास नैमिशराय को कई लड़कियों से प्रेम हुआ, लेकिन विवाह वह एक से भी न कर सके।

प्रायः सभी दलित आत्मकथाओं में किसी–न–किसी प्रकार के विवाहेतर संबंध का उल्लेख अवश्य मिलता है––कहीं पति की नपुंसकता के कारण, कहीं वैधव्य के कारण, कहीं पति की उपेक्षा के कारण तो कहीं रुचि में परिवर्तन के कारण। 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) की शीला का विवाहेतर यौन संबंध अपने भतीजे (जेठ के बेटे) से इसलिए बना कि उसका पति नपुंसक था, 'जूठन' के लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि की चाची का विवाहेतर संबंध वैधव्य के कारण बना; 'दोहरा अभिशाप' की रामकुँवर का अपने सहकर्मी मिल मज़दूर से संबंध इसलिए बना कि उसका पति जुआरी और निकम्मा था, सूरजपाल चौहान की पत्नी को इनसे अरुचि तथा भतीजे (जेठ के पुत्र) के प्रति आकर्षण था। इन सभी घटनाओं का निष्कर्ष यही है कि प्रेम चाहे वैध हो या अवैध, बदनामी हमेशा स्त्री की ही होती है, गलती चाहे उसकी हो, या पुरुष की।

यही नहीं, स्त्री के विकास के सामने हमेशा पुरुषों द्वारा संकट खड़े किये जाते रहे हैं। मोहनदास नैमिशराय की बहनों की पढ़ाई देखकर बस्ती वाले ईर्ष्या करते थे। कौसल्या बैसंत्री की परिस्थितियाँ और भी विपरीत रहीं। उन्हें पढने जाते देख बस्ती की औरतें हँसती थीं, दलित या बस्ती से बाहर के सवर्ण लड़के परेशान करते और उन्हें साइकिल से गिराने की कोशिश करते थे––

> ''बस्ती के लड़के जबरदस्ती मेरे आगे आते ताकि मैं गिर पड़ूँ और उन्हें हँसने का मौका मिले। बस्ती के बाहर उच्च वर्गीय लोगों के लड़के भी हम पर बहुत जलते थे––''ये हरिजन बाई जा रही है। दिमाग तो देखो, इसका बाप तो भिखमंगा है, साइकिल पर जाती है।'' कहकर वे भी साइकिल से गिराने की कोशिश करते थे। अपने को उच्चवर्गीय समझने वाली औरतें भी मुझे साइकिल पर जाता देखकर बड़े कुत्सित ढंग से हँसती थीं। उन्हें ताज्जुब भी होता था कि हम अछूत और मजदूर के बच्चे इतना कैसे पढ़ पाते हैं।''[29]

29. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 60–61

स्त्री के लिए स्त्री का सामना करना ज़्यादा कठिन है, बजाय पुरुष के। स्त्रियों के शोषण में स्त्रियाँ या तो स्वयं भागीदार होती हैं या तटस्थ होने के कारण अपने लिए, अपने आने वाली पीढ़ियों के लिए विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। पुरुष स्त्री के विरुद्ध स्त्री को ही खड़ा करके उनका शोषण करता है। ठाकुर जय सिंह द्वारा सूरजपाल चौहान (सुजपला) की माँ के साथ अश्लील हरकत करने पर जब उसने विरोध किया तो ठाकुर की घरवाली ने ही स्त्री का विरोध किया––

> ''अरे मेरी सौत चूहड़ी, तू ही पूरे गाम में एक हूर की परी है जो मेरौ आदमी तेरे संग..... ।''[30]

जब कि ठाकुर जयसिंह द्वारा किसी अन्य स्त्री के प्रति आसक्ति अपनी पत्नी के साथ बेईमानी है; लेकिन उसकी पत्नी ने इस बात को समझने के बजाय एक स्त्री पर ही आरोप लगा दिया। यहाँ दलित स्त्री के प्रति सवर्ण स्त्री का दृष्टिकोण सवर्ण पुरुष के ही समान है। अपने सामंतवादी पतियों द्वारा शोषित होकर भी वे उनका समर्थन करती हैं। इस संदर्भ में विमल थोरात लिखती हैं––

> ''दलित के प्रति सवर्ण महिलाओं का दृष्टिकोण बिल्कुल वैसा ही घृणात्मक होता है, जैसाकि सवर्ण पुरुषों का। जब खेतों, बागानों, जंगलों, घरों में सवर्ण पुरुषों द्वारा दिन के उजाले में दलित स्त्री के स्त्रीत्व का अपमान होता है, उस पर बलात्कार होते हैं, तब क्यों नहीं सवर्ण महिलाएँ अपने पुरुषों का विरोध करके उनका बहिष्कार करतीं।''[31]

दरअसल यहाँ वर्ग चेतना (स्त्री वर्ग) की बजाय जाति–चेतना प्रबल है। इसलिए विमल थोरात की यह कल्पना साकार होने की संभावना न के बराबर है कि वे अपने पतियों द्वारा दलित स्त्रियों पर अत्याचार का विरोध करें। जाति व्यवस्था के सर्वशक्तिमान होने का यह महत्वपूर्ण प्रमाण है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब तक जाति आधारित भेद–भाव, शोषण–अन्याय–अत्याचार नहीं समाप्त होगा, तब तक लिंग आधारित भेद–भाव नहीं समाप्त हो सकता।

दलित साहित्य में स्त्रियों की आत्मकथाएँ बहुत कम हैं, जबकि इनकी अत्यधिक आवश्यकता है। एक स्त्री की व्यथा–कथा स्त्री ही समझ सकती है.....। एक पुरुष में

---

30. सूरजपाल चौहान, संतप्त, पृष्ठ : 25
31. विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृष्ठ : 91–92

आखिरकार पुरुष प्रवृत्ति तो रहती ही है। 'दोहरा अभिशाप' की भूमिका में कौसल्या बैसंत्री जो लिखती हैं, निष्पक्ष रूप से एक दलित स्त्री ही लिख सकती है, न कि सवर्ण पुरुष, सवर्ण स्त्री या कि दलित पुरुष, क्योंकि अनुभूति की प्रामाणिकता केवल दलित स्त्री के ही पास है––

> ''पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को आए होंगे परंतु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन भर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की ज़रूरत है।''[32]

दलित आत्मकथाओं में सवर्ण स्त्रियों के पाखण्डी रूप का भी चित्रण मिलता है। 'तिरस्कृत' की ठकुराइन लेखक तथा उसकी माँ से तो छुआछूत मानती थी, मगर उसके चाचा गुलफान के साथ उसके अन्तरंग संबंध थे। तभी तो 'सुजपला' आश्चर्यचकित होता है––

> ''यह ठकुराइन मुझसे इतना छूत करती है, जरा–सा छू जाने पर अपने ऊपर पानी के छींटे डालती है....चाचा में ऐसा क्या है कि टीका की मड़ैया के पीछे अरहर के खेत में उसके साथ उलझी पड़ी रहती है।''[33]

जबकि ठाकुर बन्नी सिंह ने लेखक की माँ के बारे में कहा था––

> ''ससुरी जे भंगन होती ही ऐसी हैं, एक–एक रोटी के लिए न जाने क्या–क्या कराती फिरती हैं।''[34]

इसी तरह सूरजपाल चौहान के कार्यालय के मार्केटिंग मैनेजर डी0डी0 धवन की पी0ए0 रमा शर्मा ने सीधे उनके मुँह पर कह दिया कि मैं––

> ''भंगी–चमारों से बात नहीं करती....ये सभी गन्दे होते हैं।''[35]

---

32. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 8
33. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, पृष्ठ : 35
34 सूरजपाल चौहान, संतप्त, पृष्ठ : 25
35. वही, पृष्ठ : 53

मगर जब होटल के कमरे में धवन तथा एक अन्य व्यक्ति के साथ नग्न अवस्था में लेखक के सामने आती है तो उसका अहंकार चूर–चूर हो जाता है––

''सूरज जी, यह बात किसी को कभी मत कहना, जब आपका मन करे, मुझे कहें..... मैं दौडी चली आऊँगी।''[36]

लेखक के चाचा गुलफान के प्रति आकर्षित ठकुराइन और डी0डी0 धवन की पी0ए0 रमा शर्मा भारतीय समाज के उन चरित्रों में से हैं जिन पर हमेशा पर्दा डाला जाता रहा है और जिनके बदले दलित स्त्रियों को बदनाम किया जाता रहा है। दरअसल यह अपने अपराधों को छिपाने के लिए स्वयं से दुर्बल पर आरोप लगाने की नीति है। दलित स्त्रियों के प्रति यह पूर्वाग्रह दृष्टिकोण उनकी दुर्दशा का एक और बड़ा कारण है। इसके विपरीत सवर्ण स्त्री के प्रति पूरे समाज में सम्मान का भाव व्याप्त है। लेकिन सम्मान का यह भाव भी केवल एक दिखावा है। वास्तव में इसके पीछे पुरुषवाद का गहरा षड्यन्त्र है। वर्णव्यवस्था और पुरुषवादी मानसिकता से संचालित व्यक्ति समाज के सामने तो उसे देवी के रूप में प्रचारित करता है, किंतु परोक्ष रूप से वह उसके भोग्या रूप की ही कामना करता है। स्त्री के इस विभाजन पर राजेन्द्र यादव लिखते हैं––

''वर्ण–व्यवस्था का कमाल तो यह है कि उसने सिर्फ समाज और परिवार को ही गैर बराबरी में नहीं बाँटा, बल्कि स्वयं स्त्री को भी दो हिस्सों में बांट दिया––ऊपर की स्त्री ब्राह्मण थी, नीचे की स्त्री शूद्र''[37]

स्त्री के भोग्या रूप की कल्पना के साथ ही पुरुष की दृष्टि में वह 'नर्क का द्वार' हो जाती है। स्त्री के इन दो रूपों और दो हिस्सों का द्वंद ब्राह्मणवादी–पुरुषवादी कल्पना में चलता रहता है। लेकिन यह केवल एक पक्ष है। दूसरे पक्ष की बात तेज सिंह करते हैं––

''पितृसत्ता ब्राह्मणी हो या गैर ब्राह्मणी नारी पर शोषण और उत्पीड़न का अधिकार स्वतः ही दे देती है, यह उसके चरित्र की खास विशेषता है।''[38]

तो ब्राह्मणवादी पुरुषवाद और गैर ब्राह्मणवादी पुरुषवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

---

36. वही, पृष्ठः 56

37. राजेन्द्र यादव, हंस, जून 2008, पृष्ठः 3

38. तेज सिंह, अपेक्षा, जनवरी–मार्च 2008, पृष्ठ : 6

समाज के अधिकांश नियमों का मूल आधार धर्म और उन पर आधारित ग्रंथ हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, गीता, रामचरित मानस तथा अन्य कई ऐसे ग्रंथ हैं जो स्त्री शोषण की विचाराधारा को सशक्त बनाते हैं। इसीलिए के0एम0 सन्त लिखते हैं––

> ''नारी वर्ग के अधिकारों की रक्षा एवं सुरक्षा हेतु तथा नारी वर्ग के शोषण के विरुद्ध वरीयता के आधार पर राज्य को कानून बनाकर कार्यवाही करनी चाहिए। नारी वर्ग के अपमान, शोषण एवं अन्य असामाजिक बातों से सम्बन्धित मनुस्मृति, वाल्मीकि–रामायण, गीता, रामचरित मानस आदि पुस्तकों की विचारधाराओं एवं प्रसंगों को इन पुस्तकों से निकाल देना चाहिए जिससे नारी वर्ग के प्रति असामाजिक बातों का प्रचार एवं प्रसार बन्द हो सके।''[39]

यह अन्तर्विरोधी स्थिति है कि एक तरफ कानून और संविधान स्त्रियों को समानता और सुरक्षा का अधिकार देता है, दूसरी ओर स्त्रियों के प्रति भेद–भाव और शोषण को बढ़ावा देने वाले उपर्युक्त ग्रंथों और इन पर आधारित संस्कृति का संरक्षण भी करता है। जब तक इस दोहरी नीति के विरुद्ध समाज जागरूक नहीं होगा, तब तक स्त्रियों को दुर्दशा से मुक्ति नहीं मिल सकती। दलित स्त्री चूँकि दलितों में भी दलित है, इसलिए उसके शोषण को रोकने की संभावना और भी कठिन हो जाती है। आज आवश्यकता है समानता, स्वतन्त्रता, प्रेम और बन्धुता पर आधारित संस्कृति के विकास की ताकि समाज से भेद–भाव अन्याय–अत्याचार समाप्त हो सके।

2. आर्थिक स्थिति : श्रम की उपेक्षित संस्कृति

मानव जीवन के लिए अनिवार्य न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति एक संतुलित अर्थतन्त्र के माध्यम से ही संभव है। इसीलिए अर्थव्यवस्था मानव–जीवन का आधारिक ढाँचा है। यदि यह असंतुलित हुआ तो मानव सभ्यता–संस्कृति का पूरा ढाँचा ही असंतुलित हो जाएगा। यही कारण है कि सभ्यता के प्रारम्भ काल से ही शासक दूसरे राजनीतिक क्षेत्रों पर कब्ज़ा करते रहे हैं। विभिन्न ऐतिहासिक युद्ध, नरसंहार, साम्राज्यवाद–उपनिवेशवाद आदि के विस्तार इसी कारण से हुए। लेकिन नियमों के माध्यम से अपने ही देश–समाज

---

39. के0एम0 सन्त, भारतीय संविधान बनाम मनुस्मृति, पृष्ठ : 78

के किसी समुदाय को सम्पत्ति तथा अन्य मानवीय साधन–सुविधा–सम्मान से वंचित करने का विचित्र उदाहरण हिन्दू सभ्यता में ही मिलता है। 'मनुस्मृति' के दसवें अध्याय का श्लोक 129 इसका धर्मशास्त्रीय प्रमाण है, जिसका अनुपालन भारतीय समाज में सैकड़ों वर्षों से होता रहा है––

''शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राहमणोनव बाधते।।''[40]

(धनप्राप्ति में समर्थ होने पर भी शूद्र धन का संचय न करे। शूद्र धन पाकर ब्राह्मण को ही सताता है।)

इतना ही नहीं, यदि किसी प्रकार धन संचय कर भी ले तो ब्राह्मण को उसे छीन लेने का पूरा अधिकार है––

''विसब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपादानमाचरेत्।
नहि तस्यास्ति किंचित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः।।''[41]

(काम आ पड़ने पर शूद्र का धन ब्राह्मण बेरोक ले सकता है। क्योंकि उसका अपना धन कुछ नहीं है, सब धन उसके स्वामी का है। वह तो पहले निर्धन कहा जा चुका है।)

'मनुस्मृति' के माध्यम से ब्राह्मणों ने यह षड्यंत्र इसलिए किया ताकि उनका निरंकुश वर्चस्व बना रहे। उसी का परिणाम है कि दलितों को सबसे अधिक आर्थिक दुर्दशा का सामना करना पड़ता है। आज भी उन्हीं रूढ़ियों का पालन हो रहा है जिनकी स्थापना 'मनुस्मृति' में की गई थी। दलित आत्मकथाओं में दलितों की आर्थिक दुर्दशा का जैसा वर्णन मिलता है वह भारत के लिए प्रयुक्त 'सोने की चिड़िया' विशेषण का उपहास है। भारतीय समाज में दलितों की दुर्दशा और उनके प्रति घृणा का एक महत्वपूर्ण कारण तो यह है कि यहाँ श्रम की संस्कृति को हमेशा उपेक्षित किया गया। इसके विपरीत यहाँ दूसरों की मेहनत पर पलने वाले परजीवियों का प्रशस्तिगान किया जाता रहा है। श्रम की उपेक्षित संस्कृति के विषय में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं––

---

40. मनुस्मृतिः, अध्याय : 10, श्लोक : 129, पृष्ठ : 455
41. वही, पृष्ठ : 363

''भारतीय समाज व्यवस्था में हाथ से काम करना, परिश्रम से रोज़ी रोटी कमाना, हीनता का पर्याय है, एक व्यक्ति जो घर, दफ्तर, शौचालय, सड़कें, स्कूल–कॉलेज को हर पल स्वच्छता प्रदान करता है, वह अपवित्र और अस्पृश्य कहलाता है। समाज उसके प्रति दुर्भावनापूर्ण व्यवहार करता है, उसे हीन मानता है।''[42]

दलितों के घर प्रायः कच्चे होते हैं। उनकी बस्ती शेष समाज से अलग वहाँ होती है, जहाँ आस–पास की सारी गन्दगी इकट्ठी रहती है। बरसात के दिनों में ऐसी जगहों की दुर्दशा और भी बढ़ जाती है। हर तरफ गंदा पानी, कीचड़, सड़–गल कर गिरे–अधगिरे मकाना। जिस वर्षा ऋतु में संभ्रांत वर्ग प्रसन्न होता है, उसे दलित समुदाय बड़ी मुश्किल से पार करता है। बरसात की मुसीबतों का वर्णन 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) में मोहनदास नैमिशराय के शब्दों में देखें––

''बस्ती में अधिकतर कच्चे घर थे। लगातार बारिश से मिट्टी और गोबर की दीवारें फूलने लगी थीं। एक के बाद एक घर गिर रहे थे। xxx चूल्हे ठंडे थे। वे पानी में डूब गये थे। आज सुबह से ही किसी ने कुछ खाया–पीया न था। xxx पाखाना इधर–उधर तैरने लगा था। तेज बदबू के मारे अजीब हाल था। दुकान में तख्त पर मैं, भइया, भाभी, ताई माँ और भाभी सिकुड़े बैठे थे। घरों में बिछी चारपाइयाँ तक डूबने लगी थीं।''[43]

जिस बरसात की संभावना मात्र से किसानों का मन अच्छी फसल की कल्पना से खिल उठता है, जो प्रेमी–युगल के लिए सबसे प्रिय उद्दीपन है, जो कवियों का प्रिय काव्य–विषय है, वह झुग्गी–झोपड़ियों में रहने वालों के लिए किसी आपदा से कम नहीं। हर साल आने वाली ऐसी आपदाओं से निपटने के लिए न उनमें सामर्थ्य होती है न सरकारों के पास कोई योजना या सदिच्छा। इसलिए ऐसी आपदाएँ दलितों की नियति हैं। ऐसी ही एक आपदा का वर्णन ओम प्रकाश वाल्मीकि ने भी 'जूठन' में किया है। एक बरसात के कारण उनकी बस्ती के कई मकान गिर गए, हर तरफ भगदड़ मच गई। अन्य कई भंगी परिवारों के साथ लेखक के परिवार ने भी वर्षा से बन्द पड़ी मामराज तगा की पुरानी जर्जर बैठक में शरण ली, मगर खाने को कुछ नहीं था। थोड़े चावल उधार लेकर माँ ने ढेर सारा पानी डालकर बड़े से बर्तन में उबालने के लिए रख दिया था––

---

42. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य (वार्षिकी) 2012, संपादक : जय प्रकाश कर्दम, पृष्ठ : 23

43. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 85

''चावल उबल जाने पर पानी अलग कर लिया था। उस पानी के दो हिस्से कर लिए थे माँ ने। एक हिस्से को छौंककर दाल की तरह बना लिया था और दूसरे हिस्से में से सभी बच्चों को एक–एक कटोरी चावल का पानी पीने के लिए दे दिया था। इस उबले चावल के पानी को माँड़ कहते थे। यह माँड़ हम सब के लिए किसी दूध से कम नहीं था। जब भी चावल बनते थे, सभी खुश हो जाते थे, गर्म–गर्म माँड़ पीकर शरीर में स्फूर्ति आ जाती थी।''[44]

आज भी दलितों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। जो किसी तरह अपनी आर्थिक स्थिति सुधार चुके हैं, उनकी दशा पहले से बेहतर ज़रूर है, लेकिन अधिकांश लोगों के लिए माँड़ आज भी दूध जैसा महत्वपूर्ण है। जो वर्ण–व्यवस्था में ऊँचे पायदान पर हैं, जिनके पेट आवश्यकता से अधिक भरे हुए हैं, जो सब तरह से अघाये हुए हैं, उनके लिए ऐसी स्थिति अकल्पनीय है, लेकिन जो इन्हीं विसंगतियों में जीने के लिए विवश हैं, उनके लिए यह रोज़–रोज़ की बात है।

भारत में जीवन–यापन का मूल आधार कृषि रही है। ग्रामीण अर्थव्यवथा का केन्द्र भी यही रहा है। गाँव में रहने वाले दलित किसी–न–किसी रूप में कृषि से ही जुडे रहे––स्वामी नहीं, दास बनकर। दलित आत्मकथाओं में कृषि आधारित बँधुआ मज़दूरी या दासता के उदाहरण भी मिलते हैं। दलित आत्मकथाकारों ने बेगार के नाम पर अपने समाज पर हो रहे अत्याचारों का विवरण दिया है। ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में ऐसा ही एक विवरण मिलता है। गाँव में चकबंदी अफसर के आने से पहले साफ–सफाई के लिए भंगियों को बुलाने तहसील का एक चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आया, लेकिन भंगी युवाओं ने बेगार करने से इनकार कर दिया। तहसील का कर्मचारी धमकी देते हुए लौट गया। इसके पन्द्रह दिन बाद पुलिस के दो सिपाही भंगी बस्ती के दस लोगों को पकड़ ले गए और अकारण उनकी पिटाई की––

''बस्ती से पकड़कर लाए लोगों को मुर्गा बनाकर लाठियों से पीटा जा रहा था । पीटने वाला सिपाही थक गया था । प्रत्येक प्रहार पर पिटने वाला चीख उठता था। xxx बस्ती की औरतें, बच्चे गली में खड़े दहाड़ें मार–मारकर रो रहे थे। बिना

---

44. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 33

किसी जुर्म के पुलिस उन्हें पकड़ लाई थी। औरतों और बच्चों को रोने के अलावा कुछ सूझ नहीं रहा था।''[45]

सामाजिक व्यवस्था पर सवर्णों के वर्चस्व के कारण ही राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक आदि व्यवस्थाओं पर भी उनका ही नियंत्रण है। स्पष्ट है कि कानून व्यवस्था भी उन्हीं के नियंत्रण में रहेगी और उसका मनमाना उपयोग भी वे अपने हित में करेंगे। उपर्युक्त घटना में यही कारण कार्य कर रहा है। दलित यदि आर्थिक स्तर पर मजबूत हो जाएगा तो सवर्णों के घर मज़दूरी या बेगारी करने की उसकी मजबूरी ख़त्म हो जाएगी। मजबूरी ख़त्म होते ही वह स्वतंत्र और सशक्त हो जाएगा। उसे अपने नियंत्रण में रखने के लिए ऐसी रणनीतियाँ हर काल में लागू की जाती रहीं कि वह स्वावलम्बी न बन सके। 'नागफनी' के लेखक रूपनारायण सोनकर भी ऐसी घटनाओं का उल्लेख करते हैं। उनका छोटा भाई अजय (इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम0ए0) आई0ए0एस0 की परीक्षा देकर लौटा तो अगले ही दिन हरिशंकर अवस्थी ने उसे जबरन कंडे ढोने के लिए लगा दिया। वह दिन भर इसी काम में लगा रहा। उसने अपनी शैक्षिक योग्यता की भी दलील दी, लेकिन ब्राह्मण पर कोई फर्क न पड़ा। उसी हरिशंकर अवस्थी द्वारा बेगार के लिए बुलाये जाने पर न आने के कारण भदइया चमार की निर्दयतापूर्वक पिटाई की मार्मिक घटना का भी उल्लेख वे करते हैं। हरिशंकर अवस्थी की पिटाई से उसका पूरा शरीर लहूलुहान हो गया था––

''जब डंडा मारते–मारते टूट गया तब वह लातों–जूतों से उसकी जोरदार पिटाई करने लगा। भदइया चमार बिल्कुल बेदम हो गया था। भदइया चमार का मात्र अपराध यह था कि उसने हरिशंकर अवस्थी के खेतों की जुताई नहीं की थी। क्योंकि वह बेगार करवाता था। रात–दिन काम करने के कोई पैसे नहीं देता था।''[46]

इस बेगार प्रथासे दलितों की मुक्ति असंभव थी, क्योंकि इसका मूल आधार जाति–व्यवस्था है। जाति–व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर रहने के कारण ही दलितों का शोषण ऊँचे पायदान वाले करते रहे हैं। भरण–पोषण के किसी अन्य विकल्प के अभाव में बेगारी करना उनकी विवशता है। इस बेगारी प्रथा से मुक्ति दिलाई औद्योगीकरण ने, जिसका चरम विकास आज भूमण्डलीकरण के रूप में हुआ है। हालाँकि अपने एक

---

45. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 51

46. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 42

साक्षात्कार में ओम प्रकाश वाल्मीकि आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण को दलितों की बढ़ती आर्थिक दुर्दशा का एक बड़ा कारण मानते हैं––

> ''पूँजीवाद और बाजारीकरण ने उसके स्वरूप को और अधिक दयनीय बना दिया है। xxx दलितों से जुड़े शिल्पकार्यों के आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण की चपेट में आने से भी दलितों की विपन्नता में वृद्धि हुई है।''[47]

ओम प्रकाश वाल्मीकि यह बात कहते हुए संभवतः भूल गए थे कि दलितों की बेगारी और गुलामी का मूल कारण वही पारम्परिक व्यवसाय हैं जिनमें न चाहते हुए भी उन्हें परम्परागत रूप से लगे रहना पड़ता था; जिनसे मुक्ति चाहते हुए भी जाति व्यवस्था के कारण वे उससे बँधे रहते थे। इन परम्परागत व्यवसायों में आर्थिक लाभ लगभग न के बराबर होता था, बस श्रम करते रहने के लिए उनके जीवित रहने लायक भोजन ज़रूर मिलता था। अगर ये परम्परागत शिल्पकार्य इतने लाभप्रद होते तो शिल्पकारों की आर्थिक दुर्दशा न बनी रहती। औद्योगीकरण, बाज़ारीकरण और वैश्वीकरण ने इन पारम्परिक व्यवसायों को चौपट तो कर दिया, लेकिन उनके कारीगरों को कारख़ानों में काम भी दिलाया। कारख़ानों में काम करने के लिए दलित युवक शहर में रहने लगे। इससे तीन तरह के लाभ हुए। एक उन्हें भुखमरी से मुक्ति मिली और उनकी आर्थिक स्थिति जीवन–यापन लायक हो सकी, दो उन्हें बेगारी और सवर्णों की गुलामी से मुक्ति मिली; तीन, उनमें अपनी अस्मिता के प्रति चेतना उत्पन्न हुई। भेद–भाव अपेक्षाकृत कम रहा, क्योंकि वहाँ कारख़ानों में दलितों का शोषण करने वाले जातिवादी सवर्ण मज़दूर भी किसी–न–किसी के नौकर थे। वहाँ एक साथ काम करने और साथ रहने के कारण दलितों में समानता का भाव उत्पन्न होने लगा; उनका हीनता बोध कम होने लगा। उनकी इस 'क्षीण अर्थव्यवस्था' और अस्मिता–चेतना ने उन्हें आत्म–सम्मान और आत्मविश्वास से भर दिया। बाज़ार व्यवस्था ने कुछ सीमाओं के बावजूद हर उस व्यक्ति को साधन और सेवा ख़रीदने का अवसर दिया जो इनके लिए धन चुका सकता था। दलितों की मुक्ति में आधुनिकता की वैज्ञानिक चेतना, बाज़ारवाद की स्वार्थपूर्ण उदारता व सबके लिए उपलब्धता और वैश्वीकरण की समतावादी संस्कृति का महत्व अविस्मरणीय है। यदि यह सब न होता तो दलित समाज आज भी परम्परागत व्यवसायों को जीवित बचाये रखने के लिए साहूकारों से कर्ज़ लेकर पीढ़ी–दर–पीढ़ी उन्हें चुकाता

---

47. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य की विकास–यात्रा, संपादक : डॉ0 रामचन्द्र, पृष्ठ : 105

रहता और सवर्णों की बेगारी कर रहा होता। उसका पेट आज भी सवर्णों की कृपा और उनसे बची जूठन के सहारे भर रहा होता। उस जूठन प्रथा का विस्तृत उल्लेख दलित आत्मकथाओं में मिलता है––

> ''शादी–ब्याह के मौकों पर, जब मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाजों के बाहर बड़े–बड़े टोकरे लेकर बैठे रहते थे। बारात के खाना खा चुकने पर झूठी पत्तलें उन टोकरों में डाल दी जाती थीं, जिन्हें घर ले जाकर वे जूठन इकट्ठी कर लेते थे। पूरी के बचे–खुचे टुकड़े, एक आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी–बहुत सब्जी पाकर बाछें खिल जाती थीं। जूठन चटखारें लेकर खाई जाती थी। xxx पत्तलों से जो पूरियों के टुकड़े एकत्र होते थे उन्हें धूप में सुखा लिया जाता था। चारपाई पर कोई कपड़ा डालकर उन्हें फैला दिया जाता था। xxx ये सूखी पूरियाँ बरसात के दिनों में बहुत काम आती थीं। इन्हें पानी में भिगोकर उबाल लिया जाता था। उबली हुई पूरियों पर बारीक मिर्च और नमक डालकर खाने में मजा आता था। कभी–कभी गुड़ डालकर लुगदी जैसा बन जाता था, जिसे सभी चाव से खाते थे।''[48]

यह जूठन भी पाने का अधिकार उन्हीं को था, जो बेगारी करते थे। हर फसल पर नाम मात्र का अनाज, जूठन और भूसी मिलाकर बनाई गई रोटियाँ, फटे–पुराने कपड़े आदि ही बेगारी के बदले दलितों को मिलते थे। यही उनके जीवन–यापन का मूल साधन था। इसके अलावा मजदूरी, सुअर–पालन, जानवरों की खाल वगैरह से भी कुछ आमदनी हो जाती थी।

दलित आत्मकथाकारों ने अपने बचपन के उन दिनों का उल्लेख अनिवार्य रूप से किया है जब अपनी और अपने परिवार की रोज़ी–रोटी चलाने के लिए उन्हें खाने–पढ़ने–खेलने की उम्र में कठोर शारीरिक श्रम करना पड़ता था। एक बार भाई और पिता की अत्यधिक व्यस्तता के कारण ओम प्रकाश वाल्मीकि को बचपन में एक ग्राहक के लिए सुअर का बच्चा मारना पड़ा था, हालांकि वे उसे अधमरा छोड़कर ही भाग आए थे। उस पीड़ा और ग्लानि ने उन्हें बचपन में बहुत मानसिक कष्ट दिया था। एक बार और, जब घर पर कोई नहीं था तो बचपन में उन्हें अपने चाचा के साथ बैल की खाल उतारनी पड़ी थी। माँ नहीं चाहती थी, लेकिन खाल की बिक्री से मिलने वाले पन्द्रह रूपये छोड़ पाना माँ के लिए असंभव

---

48. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 19–20

था। घर चलाने के लिए वे बहुत ज़रूरी थे––

''छुरी पकड़ते हुए मेरे हाथ काँप रहे थे। अजीब से संकट में फँस गया था। चाचा ने छुरी चलाने का ढंग सिखाया। उस रोज मेरे भीतर बहुत कुछ था जो टूट रहा था। चाचा की हिदायत पर मैंने बैल की खाल उतारी थी। मैं जैसे स्वयं ही गहरे दलदल में फँस रहा था, जहाँ से मैं उबरना चाहता था। हालात मुझे उसी दलदल में घसीट रहे थे। चाचा के साथ तपती दोपहर में जिस यातना को मैंने भोगा था, आज भी उसके जख्म मेरे तन पर ताजा हैं।[49]

ऐसी ही परिस्थितियों के कारण दलित बच्चा उस हीन भावना से ग्रस्त हो जाता है, जो जीवन भर उसे कमज़ोर बनाए रखती है, और आत्मविश्वास के साथ कभी उभरने नहीं देती। ऐसी परिस्थिति में अगर उसे परिवार से संरक्षण मिल जाए तो वह इन संकटों को पार कर लेता है। घर पहुँचने पर ओम प्रकाश वाल्मीकि की भाभी ने जब उन्हें खून और मांस की गंदगी में सना देखा तो उन्होंने माँ से कहा––

''इनसे ये ना कराओ....भूखे रह लेंगे... इन्हें इस गंदगी में ना घसीटो.....''[50]

भाभी का यह वाक्य ही उनके लिए तिनके का सहारा सिद्ध हुआ। इस घिनौने काम के बदले उन्होंने परिश्रमपूर्वक पढ़ाई करने का निश्चय किया और जीवन–यापन का सम्मानजनक मार्ग अपनाया।

पारम्परिक व्यवसाय को छोड़कर सम्मानजनक व्यवसाय को अपनाना भी दलितों के लिए आसान नहीं होता। प्रायः अन्य व्यवसायों में अपेक्षित सहयोग और सफलता का अभाव ही होता है। जीवन–यापन के लिए उन्हें बार–बार काम बदलना पड़ता है। मोहनदास नैमिशराय, डी0आर0 जाटव, सूरजपाल चौहान आदि ने अपनी आत्मकथाओं में इस समस्या का उल्लेख विस्तार से किया है, जब उन्हें जीवन–यापन के लिए अत्यन्त कठिन परिश्रम करना पड़ा।

सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक दलित के लिए परिवार के प्रति आर्थिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह अत्यंत कठिन है। 'अपने–अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास

---

49. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 47

50. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 48

नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में ऐसी त्रासद स्थितियों का वर्णन किया है। जीवन–यापन के लिए कई बार उन्होंने नौकरियाँ पकड़ीं और छोड़ीं। दलित आंदोलन में सक्रियता के कारण उन्हें गंभीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। पत्नी से मनमुटाव रहने लगा। लेकिन दलित समाज में प्रचलित श्रम की संस्कृति के कारण दलित स्त्रियाँ भी परिवार की आर्थिक स्थिति संभालती रही हैं। मोहनदास नैमिशराय की पत्नी ही ऐसे संकटों में घर संभालती थीं––

> ''शकुन भी अस्थायी तौर पर कार्य करती थी। बहुत अधिक नहीं मिल पाता था उसे भी। जैसे–तैसे वह घर गृहस्थी की गाड़ी खींच रही थी। यही बहुत था। xxx मुझे तो कुछ सुझाई ही नहीं देता था। किसके सामने हाथ फैलाऊँ, किससे कर्ज माँगूँ, पर शकुन समय–समय पर इस तरह के सिर पर आ पड़ने वाले खर्चों को पूरा करने के लिए कहीं–न–कहीं से व्यवस्था कर लेती थी।''[51]

लेकिन बढ़ते आर्थिक संकटों से उत्पन्न मनमुटाव के कारण आखिरकार शकुन मायके में रहने लगी। बेटा मनीष और अधिक बीमार पड़ गया। पैसे के अभाव में पत्नी उसका इलाज नहीं करा सकी और वह मर गया। इतने बड़े संकट का समाचार लेखक को किसी ने नहीं दिया। समाज और परिवार दोनों का हित एक साथ साध पाना कितना कठिन है, यह इस उदाहरण से समझा जा सकता है। हालाँकि दलित समाज में एक अच्छी बात यह भी है कि यहाँ स्त्री व पुरुष दोनों श्रम करते हैं। 'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौसल्या बैसंत्री ने अपनी स्वाभिमानी नानी के संघर्ष तथा माँ–बाप के कठिन परिश्रम की कथा विस्तार से लिखी है। उसी का प्रतिफल है कि लेखिका की बहनें भी आज़ादी से पहले पढ़–लिखकर उच्च अधिकारी बनीं। लेकिन बहुत आश्चर्य है कि वे स्वयं न तो अपनी नानी की तरह स्वाभिमानी और संघर्षशील प्रतीत होती हैं, न अपनी माँ की तरह परिश्रमी और कुशल गृहणी। उनकी इस विफलता पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 धर्मवीर लिखते हैं––

> ''सोचा जा सकता है कि यदि कौसल्या बैसंत्री अपनी माँ और अपनी नानी की परम्परा में खड़ी होकर काम करतीं और निर्णय लेतीं तो वे सामाजिक विकास में बहुत योगदान कर सकती थीं। जिन्दगी भर वे पति से ही झगड़ती रह गई हैं और वह भी इस गलत सिद्धान्त के लिए कि 'शादी के बाद पत्नी को पालने की जिम्मेदारी पति की होती है।'

---

51. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–2), पृष्ठ : 152

यह सिद्धान्त हिन्दू विवाह का सिद्धान्त है, दलित विवाह का सिद्धान्त नहीं।''[52]

वास्तव में डॉ0 धर्मवीर श्रम की संस्कृति के पक्षधर हैं, जिसमें हर व्यक्ति को बिना किसी भेद–भाव के परिश्रम करने का अधिकार है। यह कर्तव्य भी है। डॉ0 धर्मवीर भिखमंगी ब्राह्मणवादी संस्कृति के विरोधी हैं।

'दोहरा अभिशाप' में लेखिका ने आर्थिक संकट के चलते दलितों के जीवन–संघर्षों का उल्लेख विस्तार से किया है। उन्होंने अपने बचपन की उस घटना का भी ज़िक्र किया है जिसमें ग़रीब मज़दूरों में चाय की आदत डालने के लिए उन्हें किसी कम्पनी ने 6 महीने तक मुफ़्त चाय पिलाई थी––

> ''मजदूरों में चाय पीने की आदत डालने के लिए चाय कंपनी ने (अब कंपनी का नाम याद नहीं) हमारी बस्ती में छः महीने मुफ्त चाय पिलाई थी। पहले चाय कंपनी के लोगों ने हर घर में कितने व्यक्ति रहते हैं, इसकी सूची बनाई थी xxx चाय बनने पर उसे एक पीतल के नल लगे ड्रम में भरकर दूसरा आदमी सूची हाथ में लेकर जिस घर में जितने आदमी के नाम लिखे होते थे उतने कप चाय देता था। xxx इस तरह बस्ती के कुछ मजदूरों में चाय पीने की आदत पड़ गई थी। माँ–बाबा भी सवेरे–शाम चाय पीने लगे थे।''[53]

यह प्रसंग इस बात का संकेत है कि देश में औद्योगीकरण के साथ–साथ दैनिक उपयोग की नई चीज़ों को लोगों की आदत में शामिल करने के लिए उनका व्यावसायिक कुटनीति से प्रचार–प्रसार शुरू हो चुका था। बाज़ारवाद की भी शुरुआत हो चुकी थी, जिसने 90 के दशक के उदारीकरण तक पहुँचकर दलितों को भी अपने में शामिल कर लिया था, कालांतर में इसी बाज़ार ने सामंती रूढ़ियों से दलितों की मुक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मनुस्मृति (अध्याय–10, श्लोकः 129) के विपरीत अब शूद्र भी धन संचय कर सकता था और उस धन से बाज़ार में उपलब्ध हर वह संसाधन, सुविधा और सेवा ख़रीद सकता था जिसे प्राप्त करने का अधिकार किसी भी मनुष्य को हो सकता है।

---

52. डॉ0 धर्मवीर; हंस, अगस्त 2004; पृष्ठ : 69, संपादक : राजेन्द्र यादव

53. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 50

3. राजनैतिक स्थिति : सत्ता–समीकरण की विषमताएँ

किसी देश–समाज की स्थितियों में व्यापक और आमूल–चून परिवर्तन की सर्वाधिक क्षमता राजनीति में होती है। सामाजिक परिवर्तन को प्रेरित करने वाले कई अन्य कारण हो सकते हैं, लेकिन उनका क्रियान्वयन अन्ततः राजनीति के ही माध्यम से संभव हो पाता है। दुनिया भर में, मानव सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास में तमाम क्रांतिकारी परिवर्तनों की भूमिका राजनीति को ही निभानी पड़ी है।

दलित आत्मकथाकारों ने भी यथाप्रसंग अपने समय–समाज की राजनीतिक गतिविधियों, परिस्थितियों और संभावनाओं का उल्लेख अपनी आत्मकथाओं में किया है। 'अपने–अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास नैमिशराय तो आत्मकथा का प्रारम्भ ही अपने पैतृक शहर मेरठ की राजनीतिक उपलब्धियों और महत्वकांक्षाओं के साथ करते हैं, जिनमें कुछ सकारात्मक हैं तो कुछ नकारात्मक भी।

मेरठ के इन महत्वपूर्ण राजनीतिक संदर्भों में दलितों का भी हिस्सा है, यह बात लेखक ने बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, बाबू जगजीवन राम तथा बी0पी0 मौर्य के प्रसंगों का उल्लेख करते हुए बता दिया। ऐसे ही राजनीतिक प्रसंग इतिहास बनाते हैं जो दलित अस्मिता को विस्तार देते हैं। लेखक ने बाबा साहब के परिनिर्वाण (6 दिसम्बर, 1956) के दुखद प्रसंग और उससे प्रभावित चमारों की बस्ती का चित्रण इन शब्दों में किया है––

> ''रात में कुआं खाली था और पनघट उदास। बस्ती के घर–घर में जैसे मातम उतर आया था। सर्दी के दिन थे, पर एक–दूसरे के घरों में लोग जमा थे। उनके चेहरे उदास थे। आँखें बिना आँसुओं के रो रही थीं। चूल्हे ठंडे थे। xxx न केवल बस्ती के लोगों में ही बल्कि मेरठ की तमाम दलित बस्तियों में यह महसूस किया गया था कि उनका कोई बेशकीमती आदमी खो गया है। xxx किसी के मर जाने पर शोर नहीं करते, खेलते नहीं, इसका मुझे उसी दिन पता चला था। सूने लोगों की ओर देखते–देखते मेरी भी आँखें सूनी हो गई थीं। xxx मैं स्वयं से सवाल कर रहा था– बाबा साहेब क्या सबके घर रहते थे ?''[54]

---

54. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 40–41

बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के परिनिर्वाण की यह घटना राजनीतिक दृष्टि से जितनी निराशा–हताशाजनक रही, उतनी ही दलितों के सामाजिक जीवन की सुखद संभावनाओं के विपरीत रही। वे पिछड़ों, दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों की सामाजिक–आर्थिक, शैक्षिक–राजनीतिक और धार्मिक स्थितियों में प्रगति के मसीहा तो थे ही, आधुनिक लोकतांत्रिक भारत के निर्माता भी थे। उनके महापरिनिर्वाण से पूरे देश के दलितों में शोक की लहर का आ जाना स्वाभाविक था। मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा में उसका उल्लेख एक उदाहरण मात्र है, जो दलितों के जीवन में बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के महत्व और उनकी भूमिका का प्रमाण है।

बाबा साहब का उल्लेख अन्य दलित आत्मकथाकारों ने भी अपनी आत्मकथा में किया है। दलित समाज उन्हें अपना आदर्श मानता है और अपने बच्चों को उनके जैसा बनाने की कामना करता है, यह बात कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में भी मिलती है––

> ''अस्पृश्यों की बस्तियों में चक्की पर आटा पीसती हुई औरतें बाबा साहब के गीत गाती थीं और लड़का पैदा होने पर उसको झूले में डालने के समय भी और बच्चे के जन्मदिवस पर भी बाबा साहब के गीत गाए जाते थे और कामना की जाती थी कि बच्चा बाबा साहब जैसा बने। बच्चे के जन्मदिवस पर कभी–कभी किसी अस्पृश्य नेता को बुलाकर भाषण देने को भी कहा जाता था। इस तरह बाबा साहब के विचारों का प्रचार भी हो जाता था।''[55]

जो व्यक्ति अपने जीवन–काल में ही जनता का आदर्श बन जाए, अपनी संतान को जिसके जैसा बनने की कामना जनता करने लगे, जिसकी प्रशस्ति के गीत लोगों की दिनचर्या में शामिल हो जाएँ, उसे काल भी संसार, समाज और लोक–जीवन से अलग नहीं कर सकता। शायद ही किसी जीवित, यथार्थ व्यक्तित्व को जनता ने इतनी पूर्णता के साथ अपनी जीवनचर्या में शामिल किया हो, जितना बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर को; जबकि हिन्दू संस्कृति में हमेशा अयथार्थ, काल्पनिक, अलौकिक देवी–देवताओं की ही प्रशस्ति की जाती रही है।

बाबा साहब राजनीति में शामिल ज़रूर थे, लेकिन उस स्वार्थवृत्ति से विरक्त रहे

---

55. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 82

जिसकी संभावना किसी भी अन्य राजनीतिक व्यक्ति में प्रायः मिल जाती है। उन्होंने दलितों की स्थिति सुधारने के लिए राजनीति को एक माध्यम के रूप में अपनाया, न कि अन्य राजनेताओं की तरह स्वार्थपूर्ति के लिए जनता को माध्यम बनाया। डी0आर0 जाटव उनकी इस निःस्वार्थवृत्ति के संदर्भ में लिखते हैं––

> ''उनके व्यक्तित्व का सबसे अधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि वह जिन दलित स्त्री–पुरुषों के उत्थान के प्रति संकल्पित और समर्पित थे, उन्हें हृदय से प्रेम भी करते थे। उन्होंने कभी उनको दर–किनार, नजर–अंदाज नहीं किया और न ही बाबा साहब ने उनकी सेवा के बदले में कुछ मांगा, न ही उन्हें कार्ड के रूप में बेचा। धन, पद कुछ भी हो, उन्हें वोट बैंक बना कर हासिल नहीं किया जैसा कि मैं प्रायः इन दिनों देखता हूँ।''[56]

दलित साहित्यकारों के लिए बाबा साहब प्रेरणा–स्त्रोत रहे। उनके प्रेरक व्यक्तित्व के प्रचार–प्रसार के माध्यम से उन्होंने अन्य दलितों को भी जागरूक किया। दलित आत्मकथाओं के राजनीतिक संदर्भों में बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के अलावा भी तमाम राजनीतिक मुद्दे महत्वपूर्ण रूप से उल्लिखित मिलते हैं। मोहनदास नैमिशराय ने 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–2) में मा0 कांशीराम तथा उनके संगठन बामसेफ और उनसे सम्बद्ध कार्यकर्ताओं, विशेषतः कु0 मायावती का उल्लेख किया है। स्वयं लेखक भी उस संगठन का समर्पित कार्यकर्ता बन जाता है। दलित आंदोलन के प्रति इस समर्पण ने लेखक को घर–परिवार के प्रति ग़ैर–ज़िम्मेदार बना दिया। तमाम आर्थिक–पारिवारिक संकटों के बावजूद वह आंदोलन में ही सक्रिय रहा, लेकिन आंदोलन ने शायद उसे कुछ नहीं दिया। कम–से–कम पारिवारिक और निजी जीवन तो बुरी तरह असंतुलित हो ही गया। उस त्रासद स्थिति और मानसिक विक्षिप्ति की अवस्था का अत्यंत मार्मिक वर्णन लेखक ने किया है––

> ''कई बार मुझे मानसिक तौर पर आघात लगे थे। मैं उन्हें अपने भीतर जज्ब कर रहा था। हम जिनके लिए रात–दिन कार्य करते हैं क्या वे समय पर हमारे मददगार बनते हैं। मैं तो बामसेफ में लेक्चररशिप छोड़ कर आया था। मेरा छोटा बेटा मनीष बीमार था। इलाज के लिए पैसा चाहिए था। दवाइयाँ खाली जेब तो खरीदी नहीं जाती थीं।

---

56. डी0आर0 जाटव, मेरा सफ़र, मेरी मंज़िल, पृष्ठ : 169

कई बार मैंने महसूस किया, बामसेफ में कुछ लोग मेरे साथ ठीक से व्यवहार नहीं करते थे। वे दलित ही थे। हम सब दलित थे। दलित आंदोलन को ऊर्जा मिल रही थी। पर हमारे भीतर की ऊर्जा रीती हो रही थी। हमारे बीच संवाद था, पर हम जैसे एक होकर भी अलग–अलग थे। मुझे क्या मालूम था कि आंदोलन में रत और घर–परिवार से हुई बेखबरी मेरे ही घर को एक दिन जला डालेगी। अंततः वही हुआ जिसका मुझे भय था। मनीष लंबी बीमारी के बाद चल बसा।''[57]

इसे घर–परिवार के प्रति लेखक की ग़ैर–ज़िम्मेदारी तो नहीं कह सकते, हाँ समाज के प्रति अतिरिक्त समर्पण ज़रूर कह सकते हैं। कई बार इसका अपेक्षित परिणाम मिलता है, लेकिन कभी–कभार इस समर्पण का परिणाम पूरी व्यवस्था और उसमें शामिल लोगों से मोह भंग के रूप होता है।

दलित आत्मकथाओं में माता प्रसाद कृत 'झोपड़ी से राजभवन' का विशिष्ट स्थान है। यह आत्मकथा साहित्यकार के साथ–साथ एक राजनेता की भी आत्मकथा है, इसलिए राजनीतिक दृष्टि से भी इसका अतिरिक्त महत्व है। माता प्रसाद ने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के उस दुर्बल और नकारात्मक पक्ष की ओर ध्यान दिलाया है जिसकी ओर लोग दृष्टिपात तक नहीं करते। यही नहीं, जिस महत्वपूर्ण बिंदु की ओर माता प्रसाद ने संकेत किया है, उसे भी महान भारतीय पंरपरा की महान संस्कृति से अभिभूत मानकर उसका मिथ्या महिमामण्डन किया जाता है। आत्मगौरव से अभिभूत भारतीयों की अंग्रेज़ों के समक्ष क्या दुर्दशा थी, इस ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं––

''इन सम्पन्न भारतीय युवकों को वहाँ भारतीय गुलाम होने के कारण कदम–कदम पर अपमान सहना पड़ा। प्रथम श्रेणी का रेल टिकट होने पर भी वे प्रथम श्रेणी में यात्रा नहीं कर सकते थे। कुछ होटलों में वे नहीं जा सकते थे। अंग्रेजों के अपमानजनक शब्द 'इंडियन डाग' सुनना पड़ता था। इन अपमानों से वे तिलमिला गए। ऐसे अभिजात लोगों को नहीं मालूम था कि भारत के दलितों को तो इससे अधिक अपमान सहना पड़ रहा था। उनका छुआ खाना–पानी तो दूर उनकी परछाई से परहेज था। स्कूलों में वे पढ़ने भी नहीं जा सकते थे। xxx विदेश जाने वालों में गाँधी जी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद, लाला लाजपत राय आदि थे। जब इन्हें

57. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–2), पृष्ठ : 158

वहाँ अपमानित किया गया तो इनमें देश को आजाद कराने की भावना पैदा हुई।''[58]

भारत के स्वाधीनता आंदोलन से सम्बद्ध ऐसा कड़वा सत्य अन्य पुस्तकों में दुर्लभ है। यह स्वार्थपूर्ण राजनीति के सत्य का निःस्वार्थ उद्‌घाटन है। दलित आत्मकथाओं का सामाजिक महत्व तो है ही, यह राजनीतिक महत्व भी है कि इनके माध्यम से देश के सच्चे राजनीतिक इतिहास के अनछुए प्रसंगों से परिचय प्राप्त हो जाता है। गाँधी–नेहरू–सुभाष–राजेन्द्र प्रसाद जैसे विश्वविख्यात और लोकप्रिय राजनेताओं के संकीर्ण वैचारिक आयाम के माध्यम से लेखक ने श्रद्धातुर जनता को इतिहास देखेने–समझने का एक नया दृष्टिकोण दिया है। हालाँकि यह विडंबना ही है कि जिस राजनीतिक संगठन से उपर्युक्त राजनेता सम्बद्ध थे, स्वयं माता प्रसाद जी भी आजीवन उसी की शरण में जीवन व्यतीत करते रहें।

उत्तर प्रदेश सरकार में मंत्री तथा केन्द्र सरकार की ओर से अरुणांचल प्रदेश के राज्यपाल मनोनीत होने के नाते माता प्रसाद के बारे में यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस नेताओं के प्रति निस्पृह दृष्टिकोण रखने के बावजूद वे इस दल के प्रति आजीवन निष्ठावान रहे। मंत्री तथा राज्यपाल पद इसी का परिणाम या प्रतिफल कहा जा सकता है। उनके द्वारा लिखित आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन' के परवर्ती प्रसंगों से इन पदों के प्रति उनकी लालसा का भी संकेत मिलता है। कांग्रेस के पक्षपातपूर्ण रवैये के कारण जब बाबू जगजीवन राम ने 'कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी' (सी0एफ0डी0) नामक नया राजनीतिक संगठन बनाया तो माता प्रसाद भी उसमें शामिल हो गए। बाद में सी0एफ0डी0 के जनता पार्टी में विलय हो जाने पर वे पुनः कांग्रेस में वापस आ गए। उनकी इसी वफादारी के बदले उन्हें उत्तर प्रदेश सरकार में कैबिनेट मंत्री और बाद में अरूणांचल प्रदेश का राज्यपाल बनाया गया। मंत्री बनने से पहले पद के प्रति उनकी लालसापूर्ण प्रवृत्ति और मंत्री बनने के बाद उनकी व्याकुलता तथा रोमांच का उदाहरण उन्हीं के शब्दों में––

''मुझे मंत्री होने की आशा थी किंतु मंत्री न हो पाया लेकिन मेरे मन में पता नहीं क्यों धारणा बन गई कि मैं मंत्री बनूंगा। मेरे मंत्री बनने की बात जब कोई हितैषी करता तो मैं झल्ला उठता और ऊपर से उस पर दिखावटी नाराजगी जाहिर करता। XXX रात में खुशी के मारे नींद ही नहीं आ रही थी। मैं परेशान था कि कोई हादसा न हो

58. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ : 15–16

जाए। मंत्री होने के बाद कैसे–क्या करेंगे, अनेकों विचार आ रह थे। वह रात खुशी की बेचैनी में गुजरी।''[59]

राजनीति में व्याप्त जातिवाद का भी उदाहरण 'झोपड़ी से राजभवन' में ही मिलता है। मा0 काशीराम के विरुद्ध मुकदमा स्वयं माता प्रसाद ने किया था। दलित समुदाय का झुकाव बहुजन समाज पार्टी की ओर न हो जाए इसलिए कांग्रेस को दलित कल्याणकारी योजनाएँ चलाकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना चाहिए––इस आशय का पत्र प्रधानमंत्री राजीव गाँधी को स्वयं इस आत्मकथाकार ने लिखा था। राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर कांग्रेस के बीच चल रहे मनमुटाव, गुटबंदी, पारस्परिक विवाद आदि का भी विस्तृत वर्णन लेखक ने अपनी आत्मकथा में किया है। लेखक ने उस राजनीतिक अहंवाद का भी वर्णन किया है जब अरूणांचल प्रदेश के राज्यपाल का कार्यकाल समाप्त हो जाने पर तत्कालीन भारतीय जनता पार्टी ने लेखक को राज्यपाल पद त्यागने का आदेश दे दिया, जबकि यह आदेश महामहिम राष्ट्रपति ही दे सकते हैं। फलस्वरूप लेखक ने नये राज्यपाल की नियुक्ति के पूर्व पद त्यागने से मना कर दिया। इस प्रसंग को लेकर सरकार की बड़ी आलोचना हुई, हालाँकि कार्यकाल समाप्त हो जाने पर भी पद पर बने रहना सम्मानजनक नहीं कहा जा सकता। इन सब घटनाओं का उल्लेख आत्मकथाकार की ईमानदारी का प्रमाण है।

ऐसे विसंगतिपूर्ण राजनीतिक परिवेश के बीच माता प्रसाद जी जौनपुर के आदर्श नेता रऊफ जाफ़री साहब के उस रोचक प्रेरक प्रसंग का उल्लेख करना नहीं भूलते जब उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव 1962 के प्रचार के दौरान प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार केशरी पांडेय जी की गाड़ी का पेट्रोल समाप्त हो गया, जिसके लिए उन्हें 48 किलोमीटर दूर जौनपुर जाना पड़ता। तब उनके प्रतिद्वंदी उसी क्षेत्र से कांग्रेस उम्मीदवार रऊफ जाफरी साहब ने अपनी गाड़ी से पेट्रोल दिया था––

''पांडे जी गाड़ी खड़ी करके टहलने और सोचने लगे कि अब क्या किया जाए ? इसी बीच रऊफ जाफरी साहब अपनी गाड़ी से आ गए। श्री पांडेय की गाड़ी खड़ी देखकर वह रुक गए और उनके ड्राइवर को बुलाया, पूछा क्या बात है ? उसने कहा पेट्रोल खत्म हो गया है। श्री जाफरी को देखकर पांडेय जी दूर चले गए। श्री रऊफ जाफरी

---

59. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ : 137

साहब ने अपनी गाड़ी से पेट्रोल निकलवाकर पांडेय जी की गाड़ी में पेट्रोल डलवाया और आगे बढ़ गए।''[60]

इस प्रसंग का अंत और भी रोचक रहा––1962 के उस चुनाव में रऊफ जाफरी साहब श्री केशरी पांडेय से चुनाव हार गए।

दलित आत्मकथाओं को प्रायः अपने समय की राजनीतिक परिस्थितियों से असंपृक्त मान लिया जाता है, जबकि ऐसा नहीं है। यथा प्रसंग राजनीतिक संदर्भों का प्रयोग इनमें ज़रूर है, हाँ अनावश्यक विस्तार नहीं मिलता। माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन' एक राजनेता की आत्मकथा है, फलतः उसमें राजनीतिक प्रसंगों का ही बाहुल्य है; अन्य आत्मकथाएँ राजनीति से इतर व्यक्तियों द्वारा लिखी गई हैं, अतः उनसे राजनीतिक प्रसंगों की अपेक्षा करना उचित नहीं प्रतीत होता।

दलित आत्मकथाओं में लेखकों ने अपने परिवेश की उन राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख अवश्य किया है जिनका प्रभाव व्यापक हो। इसके अलावा, जो प्रसंग दलित जीवन से संबद्ध हैं, उनका भी उल्लेख मिलता है।

4. धार्मिक स्थिति : चेतना की आदिम अवस्था

धर्म और समाज परस्पराश्रित हैं। धर्म के आधार पर समाज के नियमों का निर्धारण होता है और समाज के आश्रय में धर्म का पालन–पोषण होता है। एक ने दूसरे पर अनुशासन थोपा तो दूसरे ने उसकी दासता स्वीकार कर ली। लेकिन स्थिति इतनी सामान्य नहीं है जितनी कि प्रतीत होती है। समाज का एक वर्ग ऐसा भी रहा है जिसने कभी धर्म की दासता स्वीकार नहीं की, क्योंकि धर्म अंततः अंधविश्वास की उपज है। यही तर्कशील वर्ग है। धर्म की उत्पत्ति के संदर्भ में बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर लिखते हैं–

''असभ्य समाज में जादू–टोना, प्रतिबंध आदि का अंगीकार अपने स्वयं के लिए नहीं, बल्कि जीवन की रक्षा के लिए, और बुरी बातों से खतरों के बचाव के लिए किया गया।

---

60. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ : 162

इस प्रकार से हमें यह समझना होगा कि आदिम समाज का धर्म, जीवन तथा उसकी सुरक्षा से संबंधित था और जीवन की इस प्रक्रिया से ही असभ्य समाज के धर्म की उत्पत्ति हुई है और इसमें ही उसका सार है। xxx आदिम समाज के धार्मिक समारोह केवल जन्म, पुरुषत्व, यौवन, विवाह, रोग, मृत्यु और युद्ध तक ही सीमित नहीं थे। उनका सम्बन्ध भोजन या खाद्यान्न से भी था। पशुपालक पशुओं को पवित्र मानते थे। कृषक भूमि की बुआई और फसल की कटाई धार्मिक समारोहों के साथ करते थे। इसी प्रकार अकाल, महामारी तथा अन्य प्राकृतिक अनहोनी घटनाओं के समय भी धार्मिक समारोह किए जाते थे।''[61]

असभ्य समाज में प्राकृतिक घटनाओं से भयभीत होकर किसी अलौकिक शक्ति से रक्षा के लिए प्रार्थना करना या जादू–टोना के माध्यम से स्वयं अपनी, अपने परिजनों या अन्य की रक्षा का इंतज़ाम करना अस्वाभाविक नहीं है। तब सुरक्षा का अन्य कोई विकल्प नहीं होता था; तब प्राकृतिक घटनाओं के पीछे का कारण मनुष्य के लिए अज्ञात था। सूर्य, चन्द्रमा, तारे तथा धूप, वर्षा, बादल, बिजली, आँधी–तूफ़ान, भूकम्प, ज्वालामुखी, बाढ़ आदि प्राकृतिक परिघटनाएँ मनुष्य के लिए रहस्य थीं। इन रहस्यमय घटनाओं से भयभीत मनुष्य इन्हें शांत करने के प्रयास में तरह–तरह के कर्मकाण्ड और टोने–टोटके अपनाता गया। कालान्तर में इन प्राकृतिक परिघटनाओं के रहस्यों का उद्‌घाटन मनुष्य की विश्लेषण–बुद्धि के माध्यम से संभव होने लगा। प्रकृति के अधिकांश रहस्यों का वैज्ञानिक कारण जान लेने के बाद भी आज दुनिया भर में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो भौतिक दृष्टि से तो आधुनिक प्रतीत होते हैं, लेकिन उनकी चेतना का स्तर अभी तक आदिम अवस्था में है।

भारतीय समाज का अधिकांश आज तक उसी अंधविश्वास में जकड़ा हुआ है जिसे धर्म कहते हैं। दलित समाज भी इससे अछूता नहीं है, हालाँकि तमाम दलित बुद्धिजीवियों ने धार्मिक पाखण्डों, छल–छद्‌म वाले कर्मकाण्डों का विरोध किया है। दलित आत्मकथाकारों ने ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है जिसमें सामाजिक परम्परा के निर्वाह मात्र के लिए दलित समुदाय के लोग धार्मिक कर्मकाण्डों में लिप्त हैं। रूपनारायण सोनकर ने अपने गाँव में होने वाले देवी–पूजन के अवसर पर आयोजित 'साँग' का वीभत्स चित्रण किया है,

---

61. बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्‌मय, खण्ड–6, (हिन्दुत्व का दर्शन), पृष्ठ : 24

जिसमें दलित–पिछडे लोग अपने गालों के आर–पार सरिया डालकर नाचते हैं––

''सुक्खी बाबा मंत्र पढ़ने के पहले छेदे जाने वाले गालों में नींबू का रस मलता था। फिर एक–एक आदमी के मुँह के गालों के आर–पार साँग निकाल देता था। XXX साँग छेदने वाले अधिकतर दलित और पिछड़ी जाति के होते थे। अपवाद स्वरूप ही कोई ब्राह्मण और ठाकुर अपने गालों में साँग लगवाते थे। दलितों और पिछड़ों को साँग छिदवाने के लिए ब्राह्मण सदैव प्रोत्साहित किया करते थे। ब्राह्मण दलितों से कहा करते थे कि ''ऐसा करने से दलितों की सारी मनोकामनाएँ पूरी हो जाएँगी।''[62]

धार्मिक कर्मकाण्डों के नाम पर, मनोकामनाएँ पूरी करवाने के बहाने सवर्ण लोग दलितों से ऐसे ख़तरनाक और वीभत्स काम करवा लेते हैं, ताकि उनके धार्मिक समारोह रोमांचक और मनोरंजक भी बने रहें और दलित–पिछड़े धर्म के जंजाल से फँसे भी रहें। लेकिन जब यही दलित मंदिर में प्रवेश करते हैं या धार्मिक प्रतीकों को छू लेते हैं तो उन्हें दण्ड दिया जाता है। 'नागफनी' में ही एक प्रसंग आया है, जिसमें लेखक की चाची ने देवी–पूजन का कलश अपने सिर पर रख लिया तो एक ब्राहमण ने उसे गालियाँ देते हुए दो–तीन लात मारे। लगभग हर दलित आत्मकथा में इसी तरह के धार्मिक प्रसंग हैं, जहाँ दलित हिन्दू धर्म के प्रतीकों तक पहुँचने के लिए लालायित रहते हैं और ब्राह्मण उन्हें दुत्कारते रहते हैं। 'नागफनी' में जब लेखक की चाची को ब्राह्मण ने लात मारी और गालियाँ दीं तो दलितों के आक्रोश को देखकर ब्राह्मणों ने उनसे समझौता कर लिया, लेकिन दलितों ने स्वयं को अपमानित करने वाले उस धर्म की शरण में जाना नहीं छोड़ा। 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) में मोहनदास नैमिशराय ने भी मंदिर के संदर्भ में दलितों के प्रति सवर्णों के दुर्व्यवहार का उल्लेख किया है––

''हम लोगों का मंदिर में प्रवेश करना सवर्णों को अच्छा नहीं लगता था। हमारे जाने पर वे टोका–टाकी करते थे। बड़े–बूढ़े अकसर हमारी जाति को लेकर गंदी–गंदी गालियाँ भी दिया करते थे। वे भरसक प्रयास करते थे कि दलितों में से कोई उनके मंदिर में आकर उसे भ्रष्ट न करे।''[63]

---

62. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 16

63. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे, (भाग–2), पृष्ठ : 27

दलितों से तो मंदिर का पुजारी छुआछूत बरतता था और मंदिर की पवित्रता बनाए रखता था, पर ख़ुद उसी ने वहाँ जुए और व्यभिचार का अड्डा बना लिया था। एक बार तो एक निःसन्तान स्त्री को उसने सन्तान–सुख के लालच में फँसा लिया। स्त्री गर्भवती हो गई, जबकि डॉक्टरी जाँच में उसका पति नपुंसक निकला। ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जब किसी मंदिर के इष्ट देव ने धर्मस्थल पर व्याप्त भ्रष्टाचार, व्यभिचार या अन्य किसी प्रकार के अनैतिक–अवैध कृत्य को रोका हो। लेकिन फिर भी सवर्ण तो सवर्ण, हर दृष्टि से शोषित–पीड़ित दलित उन्हीं अक्षम देवी–देवताओं की शरण में जाते रहते हैं।

दलितों पर जादू–टोने और धार्मिक कर्मकाण्डों का अंधविश्वास इतना हावी रहा है कि अपनी लौकिक–भौतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए भी वे अलौकिक–अभौतिक शक्तियों का ही सहारा लिया करते हैं। 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–2) में मोहनदास नैमिशराय ने ऐसी घटनाओं का वर्णन किया है जिसमें किसी स्त्री या पुरुष के बीमार होने पर उसका इलाज 'भगत' या ओझा किया करते थे। बीमारी भगाने या भूत उतारने की प्रक्रिया अत्यन्त वीभत्स, भयानक और कष्टदायक होती थी––

> ''सामान्यतः औरत की जब तक खूब पिटाई नहीं हो जाती थी तब तक वह स्वयं या उसके भीतर बैठा कोई भूत, भूतली या चुड़ैल नहीं बक्कारती थी। ऐसी औरतों को गर्म चिमटे से पीटा जाता था। कुछ औरतें बाल खोलकर जोर से रोतीं, कभी हँसना शुरू कर देतीं। वे उठकर नाचना शुरू कर देतीं, कभी–कभी आस–पास बैठे किसी आदमी या औरत पर आँखें लाल कर दाँत भींचते हुए हमला भी कर देती थीं। ऐसे वार स्वयं भगत पर भी हो जाते थे। इसलिए सावधानीवश भगत आदमी हो या औरत उसके बाल ही मजबूती से पकड़ कर रखता था। उनकी पिटाई करना तो आम बात थी।XXX पुरुष होता तो उसे चप्पल या जूतों से पीटा जाता और औरत होने पर गर्म चिमटे से।''[64]

अपने–अपने पिंजरे में उल्लिखित यह घटना अब से लगभग पचास–साठ साल पहले की है। तब से अब तक भारतीय समाज ने बहुत विकास किया है, चहुँमुखी विकास। लेकिन विडम्बना यह है कि विकास केवल तकनीकी है, भौतिक है, ऊपरी दिखावा है। व्यावहारिक जीवन के लिए अनिवार्य तर्कशीलता अधिकांश भारतीय आज तक नहीं सीख पाये हैं। जो बदलाव देखने को मिलता है, वह अपेक्षा से बहुत–बहुत कम है। शिक्षा ने स्थिति को बदलने

---

64. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे, (भाग–2), पृष्ठ : 45

का प्रयास तो किया है, लेकिन परम्परा के नाम पर रूढ़ियों में जकड़ा भारतीय जन–मानस अपने आप को बदले जाने के लिए कतई तैयार नहीं है। हर नयापन उसका शत्रु होता है; वह चाहे उसके हित में हो या अहित में।

'जूठन' के लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि ने भी ऐसे कई प्रसंगों का उल्लेख किया है जिनमें किसी के अस्वस्थ हो जाने पर उसकी चिकित्सा कराने के स्थान पर भगत लोग इलाज किया करते थे। एक बार स्वयं लेखक पर भी भूत सवार हो गया था और उसका इलाज भी इसी तरह से किया जाने लगा, लेकिन लेखक पर उसका कुछ भी असर न हुआ। उचित इलाज के बजाय भूत–प्रेत के चक्कर में दलित बस्ती की कई जानें जा चुकी थीं, इसका उल्लेख स्वयं लेखक ने किया है––

> ''न जाने कितने लोग इन भगतों ने मार डाले ! मेरे दो भाई बिना दवा–दारू और सही इलाज के चल बसे थे। जगदीश की उम्र मुश्किल से सत्रह–अठारह बरस रही होगी। शरीर से हट्टे–कट्टे जगदीश ने दूसरे दिन बुखार में ही दम तोड़ दिया था। ऐसे ही सुखवीर 24–25 वर्ष के रहे होंगे, जब गुजर गए थे। हर साल बस्ती में एक–दो मौतें इसी तरह हो जाती थीं। फिर भी इन देवताओं और भगतों के प्रति आस्था कम नहीं होती थी।''[65]

माता प्रसाद ने तो 'झोपड़ी से राजभवन' शीर्षक अपनी आत्मकथा में यहाँ तक लिखा है कि भूत–प्रेत के कारण बस्ती के लोग आपस में झगड़े किया करते थे। इन झगड़ों में ओझा की विशेष भूमिका होती थी। वही बताता था कि किसने किस पर भूत किया है। उसी की बात को प्रमाण मानकर आपस में लड़ाई–झगड़ा करते रहते थे। भूत–प्रेत को लेकर झगड़े की यह प्रवृत्ति गाँवों में आज तक बनी हुई है, इसके चलते कई परिवारों में पीढ़ी–दर–पीढ़ी दुश्मनी चलती रहती है। इसका इलाज भी वही ओझा करता था––या तो उस भूत को किसी अन्य के ऊपर डालकर या किसी नदी के किनारे बैठाकर। इस तरह या तो फिर से एक नया झगड़ा शुरू हो जाता था, या ख़त्म। पहले विकल्प की संभावना ज़्यादा होती थी। लेखक ने बीमारियों के इलाज के लिए भी ओझाओं का सहारा लेने का उल्लेख किया है। अक्सर नई बहुओं के आने पर एक या दो वर्ष तक अगर बच्चा नहीं होता था तो मान लिया जाता था कि उस पर किसी भूत या चूड़ैल का प्रभाव है। फिर

---

65. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 56

ओझा उसका उसी तरह से इलाज शुरू करते थे जिस तरह का उल्लेख मोहनदास नैमिशराय ने 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–2) में किया है।

सूरजपाल चौहान ने उस मार्मिक घटना का वर्णन अपनी आत्मकथा 'तिरस्कृत' में किया है, जिसमें बीमारी का इलाज कराने की बजाय भूत–प्रेत भगाने के प्रयास में ही उनकी माँ की मृत्यु हो गई––

> ''पिता देश की राजधानी दिल्ली में निजामुद्दीन रेलवे स्टेशन पर मजदूरी करते थे। माँ की बीमारी की खबर सुनकर पिताजी गाँव आए। आते ही पिता ने डॉक्टरी इलाज कराने की बजाय उसके ऊपर भक्तावल शुरू करवा दी। मेरे पिता भी उस समय बहुत बड़े भक्त थे। उनके सिर पर सेवा आती थीं, इसीलिए भक्तावल में उनका पूरा विश्वास था। रात–रात भर मेरी बीमार माँ को भगत–लोग बीच में घेरकर बैठे रहते। उसमें से कोई थाली पीटता, कोई डमरू बजाता तो कोई चम्मच से पीतल का गिलास। वातावरण में भय उत्पन्न करता संगीत बजता और बैठे हुए भक्तों में से कोई एक अपनी गर्दन को जोर से झटकता 'हुआँ–हुआँ' की आवाज निकालता। उनकी ऐसी हरकतों को देखकर मैं डर जाता और घिघियाता हुआ मौसी चमेली की गोद में मुँह छिपा लेता। माँ से बीमारी की हालत में अधिक देर न बैठा जाता और वह एक ओर को निढाल होकर गिर जाती।''[66]

और एक दिन लेखक की माँ की मृत्यु हो जाती है। लगभग पूरे भारत में यही दशा रही है। निर्धन और अशिक्षित होने के कारण दलितों में यह अंधविश्वास ज़्यादा रहा है। एक तो शिक्षा और जागरूकता का अभाव, ऊपर से निर्धनता। अगर दलित जागरूक हो, तो भी धन के अभाव में उसे इन्हीं कर्मकाण्डों के सहारे इलाज कराना पड़ता है। कभी–कभार संयोगवश अगर किसी रोगी की जान बच जाती है तो टोने–टोटके के प्रति लोगों का अंधविश्वास और भी बढ़ जाता है।

धर्म तथा जादू–टोना–टोटका का आपस में गहरा सम्बन्ध है। अत्यन्त निर्धन लोगों तथा दलित जातियों में प्रचलित कर्मकाण्ड धर्म का प्राचीनतम रूप है। जिनका जीवन स्तर परिष्कृत होता गया, उनका धर्म भी परिष्कृत होता गया। तो धर्म का मूल रूप वही प्राचीनतम कर्मकाण्ड है जिनका व्यवहार दलित जातियाँ तथा निर्धन वर्ग करते हैं। इनके पास अपने

---

66. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, पृष्ठ : 13–14

कर्मकाण्डों को परिष्कृत करने के संसाधन नहीं हैं, इसलिए इन्हीं की तरह इनका धर्म भी आदिम रहा है, संभ्रात वर्ग से भिन्न रहा है। ओम प्रकाश वाल्मीकि ने भी 'जूठन' में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि दलितों के देवी–देवता अलग थे––

> ''कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिन्दू थे, लेकिन किसी हिन्दू देवी–देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं, जहारवीर की पूजा होती थी या फिर 'पौन' पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, 'नवमी' के ब्रह्ममुहूर्त में। इसी प्रकार दीपावली पर लक्ष्मी का पूजन नहीं, माई मदारन के नाम पर सुअर का बच्चा चढ़ाया जाता है या फिर कड़ाही की जाती है। कड़ाही यानी हलवा–पूरी का भोग लगाया जाता है।''[67]

दलितों द्वारा हिंदूओं से इतर देवी–देवताओं का पूजन पूरे भारत की विशेषता है। आज भी जिन दलितों का संस्कृतिकरण नहीं हुआ है, या संस्कृतिकरण के बावजूद जो अपनी जड़ों से जुड़े हुए हैं, उनके अपने अलग देवी–देवता, कुल देवी या कुल देवता हैं। सवर्णों तथा अस्पृश्यों के सांस्कृतिक–धार्मिक अलगाव का यह एक बड़ा प्रमाण है। कुछ ऐसे भी हैं जिन पर हिंदू जाति व्यवस्था का इतना गहरा प्रभाव है कि बौद्ध होने के बावजूद वे वर्ण–व्यवस्था के जंजाल से मुक्त नहीं हो सके हैं। सिद्धांतों में तो उनके आदर्श गौतम बुद्ध और बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर हैं, मगर व्यावहारिक समस्याओं के निपटान के लिए उन्हें हिन्दू देवी–देवताओं की शरण लेनी पड़ती है––बाबा साहब से प्रेरित–प्रभावित ऐसे लोग उनके साथ हिन्दू देवी–देवताओं के भी चित्र लगाते हैं। कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में ऐसा ही एक उदाहरण मिलता है––

> ''घर के लोगों के चित्र और कुछ कलात्मक चित्र जैसे 'नल–दमयंती' का संदेश हंस से सुनते हुए और श्री कृष्ण की रासलीला तथा सरस्वती और लक्ष्मी के चित्र भी एक लाइन से दीवार पर लगाए गए थे। बाबा साहब अम्बेडकर का फोटो हमारे पढ़ने के टेबल के साथ दीवार पर लगा था।''[68]

दलित समाज जब तक अपनी इस द्विविधा की स्थिति से बाहर नहीं निकल जाता, तब तक वह अपनी सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक दुर्दशा से भी मुक्त नहीं हो सकता। समाज

---

67. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 53

68. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 83

की सारी व्यवस्थाओं को बदल देने की क्षमता केवल राजनीति में होती है, लेकिन इससे भी बड़ा सत्य तथ्य यह है कि स्वयं राजनीति भी धर्म द्वारा संचालित होती है। राजनीति में परिवर्तन की दिशा धर्म तय करता था।

5. शैक्षिक स्थिति : विकास का मूल आधार

भेद–भाव भारतीय समाज–व्यवस्था का मूल चरित्र है। धर्म, क्षेत्र, जाति, भाषा, लिंग, वर्ण, नस्ल, वर्ग आदि विभिन्न आधार उपलब्ध हैं– इनमें से कोई–न–कोई विकल्प उन्हें मिल ही जाता है जिन्हें किसी के साथ भेद–भाव करना है। दलित जातियाँ जिस तरह जीवन–यापन के लिए अनिवार्य न्यूनतम भौतिक सुविधा–संपदा से वंचित रखी गईं, उसी तरह उन्हें बौद्धिक संपदा से भी वंचित रखा गया, ताकि उन्हें समाज के यथार्थ का ज्ञान न हो सके, ताकि वे अपने हित–अहित का निर्णय न ले सकें। दलितों को अध्ययन–अध्यापन से वंचित रखने का यही मूल कारण है। लेकिन बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर की प्रेरणा से, हर षड्यंत्र और संकट के बावजूद दलित समुदाय ने शिक्षा ग्रहण की। आज दलित समाज में जो थोड़ी सी चेतना है, उसका मूल आधार शिक्षा ही है। दलित आन्दोलन के संदर्भ में शिक्षा के महत्व पर कमलेश्वर लिखते हैं––

> ''वास्तव में दलित साहित्य साक्षरता और लोकतान्त्रिकता का भी खास प्रतिफल है। शिक्षा ने दलित साहित्य को एक धार दी है और इस धार ने लोकतान्त्रिक और बौद्धिक तौर पर विकसित होते समाज की गहरी पहचान हमें दी है। दलित साहित्य लेखन और आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है।''[69]

शिक्षा विकास का मूल है। शिक्षा के ही माध्यम से एक पीढ़ी द्वारा अर्जित ज्ञान दूसरी पीढ़ी तक प्रेषित किया जाता है– वह चाहे ज्ञान के व्यावहारिक जीवन में अभ्यास से हो अथवा स्मृति–श्रुति और लेखन–पाठन के माध्यम से। जिस समाज ने शिक्षा को प्राथमिकता दी, वह निरंतर प्रगतिशील रहा है। जिस समाज ने शिक्षा को प्राथमिकता नहीं दी, या पूरी तरह नकार दिया, वह आज दुनिया के सबसे पिछड़े देशों में गिना जाता है। भारतीय समाज में शिक्षा को प्राथमिकता तो दी गई, लेकिन उस पर एक जाति विशेष का एकाधिकार रहा।

---

69. कमलेश्वर, 'दलित सहित्य का प्रामाणिक आकलन' शीर्षक भूमिका, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ0 हरिनारायण ठाकुर, पृष्ठ : 8,

फलतः शिक्षा के माध्यम से प्रचारित–प्रसारित होने वाला ज्ञान भी उसी समुदाय तक सीमित रहा है। कालांतर में अन्य वर्णों तक शिक्षा का अधिकार पहुँचा, लेकिन दलित जातियों के लिए यह सदा निषिद्ध ही रही। देश की सबसे मेहनतकश, एक बड़ी आबादी को सदियों से शिक्षा और कौशल से वंचित रखा गया, वैश्विक स्तर पर हमारे पिछड़ेपन का एक बड़ा कारण यही है।

हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में दलित शिक्षा के जिस स्तर का उल्लेख मिलता है वह लगभग पूरे भारत में समान है। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् देश में संविधान लागू होने के कारण सैद्धांतिक दृष्टि से सबको शिक्षा का अधिकार तो मिल गया, किंतु लोक–व्यवहार में इसके लिए अब भी कोई महत्व मान्य नहीं था। समाज की ऐसी मान्यता थी कि दलित पढ़–लिखकर भी अंततः अपने पैतृक व्यवसाय में ही संलिप्त रहेगा। 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) में मोहनदास नैमिशराय ने एक घटना का उल्लेख किया है। एक बार जब लेखक के पिता दुकान पर नहीं थे, उसी समय एक बनिया ग्राहक आकर उससे चप्पल की मरम्मत करने के लिए कहने लगा। लेखक उस समय पढ़ाई कर रहा था क्योंकि अगले दिन उसकी परीक्षा थी, तो उसने मना कर दिया। इतने पर ग्राहक चिढ़कर बोला––

''अरे पढ़–लिखकर क्या तू लाट–गवन्नर बन जागा। गांठेगा तो येई लीतरें।''[70]

यहाँ बनिये ने लेखक की योग्यता का नहीं, उसकी जाति का मूल्यांकन किया। दलितों के प्रति समाज का यह पूर्वाग्रह आज भी विद्यमान है। अधिकांश सवर्ण अध्यापक प्रायः जाति के आधार पर विद्यार्थी की प्रतिभा का मूल्यांकन करते हैं। ऐसा ही एक संस्मरण मनोज कुमार मार्तण्ड ने 'हंस' में लिखा है जिसमें एक ठाकुर अध्यापक एक चमार विद्यार्थी के डॉक्टर बनने की योजना पर व्यंग्य करते हुए कहता है––

''ये साले यहाँ सरकारी वजीफा लेने आते हैं, पढने नहीं,.... देख सारे के... डाक्टर बने.... बाप खपड़ा छाये, मजूरी करे अउर बेटवा डाक्टर बने.... अरे साले चमाड़िया.... जाइ के हर जोत खेत गोड़, डाक्टरी चमारेन के बस में नांइ न। वजीफा ले... घर जा।''[71]

---

70. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 77

71. मनोज कुमार मार्तण्ड, हंस, अगस्त 2004, संपादक : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ : 25

पहले तो दलितों को शिक्षा का अधिकार नहीं था, फिर जब अधिकार मिला तो शिक्षा का मूल्य चुकाने के लिए धन नहीं। इसके लिए सरकारी वजीफे का इंतजाम हुआ तो सवर्णों ने विद्यालय में उनके प्रवेश का उद्देश्य इसे ही मान लिया; इस पूर्व निर्धारित आधार के साथ कि उनमें इतनी बुद्धि होती ही नहीं, कि वे शिक्षा प्राप्त कर सकें। उनका पूरा प्रयास यह होता है कि दलित किसी भी तरह शिक्षा न प्राप्त कर सकें। उन्हें अपमानित कर हतोत्साहित करने का पूरा षड्यंन्त्र किया जाता है। मोहनदास नैमिशराय ने भी इस बात का उल्लेख अपनी आत्मकथा में किया है कि सवर्ण अध्यापक दलित विद्यार्थियों को जाति के नाम पर गाली दे–देकर सम्बोधित करते हैं। यही नहीं, दलितों के स्कूल को सवर्ण लोग 'चमारों' का स्कूल कहते थे।

विद्यालय में दलित विद्यार्थियों को सवर्णों से अलग बैठाया जाता था, सबसे पीछे; और कोशिश की जाती थी कि उन्हें पढ़ाना न पड़े। 'जूठन' के लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि जब पहली बार स्कूल गए तो हेडमास्टर ने उन्हें पढ़ाने की बजाय लगातार दो–तीन दिन तक उनसे पूरे स्कूल में झाड़ू लगवाई––

> ''ठीक है....वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़के झाड़ू बणा ले। पत्तों वाली झाड़ू बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसे चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा....फटाफट लग जा काम पे।''[72]

ओम प्रकाश वाल्मीकि जब दूसरे दिन स्कूल गए, तब भी हेडमास्टर ने गाली देकर बुलाया और पूरे स्कूल में झाड़ू लगाने का काम दे दिया। लेखक रोते–रोते झाड़ू लगाने लगा। थोड़ी देर बाद पिता ने उधर से गुज़रते हुए देखा तो घर ले गए। बाद में गाँव के प्रधान की सिफ़ारिश पर फिर से उनकी पढ़ाई उस स्कूल में शुरू हो सकी।

ओम प्रकाश वाल्मीकि की शुरुआती पढ़ाई मोहल्ले में ही हुई। ईसाई मिशनरी के सेवक राम मसीही भंगी मोहल्ले के बच्चों को पढ़ाते थे, क्योंकि सरकारी स्कूलों में दलितों को कोई घुसने भी नहीं देता था। विदेशी धर्म होने के नाते ईसाइयों को चाहे जितना कोसा जाये, लेकिन उन्होंने भारत के दलितों मज़दूरों को जीवन–यापन की मौलिक सुविधाएँ जुटाने में, शिक्षा प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कई दलित आत्मकथाकारों ने स्वीकार किया है कि उनकी प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा में ईसाई मिशनरियों का महत्वपूर्ण

---

72. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 14–15

योगदान रहा है। 'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौसल्या बैसंत्री ने भी ईसाई मिशनरियों के सेवा–भाव की प्रशंसा की है। मसीही कार्यकर्ता शिक्षा के साथ–साथ स्वास्थ्य सेवाएँ भी देते थे और लड़कियों के लिए रोजगारपरक शिक्षा (सिलाई, कढ़ाई, बुनाई आदि) भी देती थीं और सीखने के लिए सुई–धागा, कपड़े आदि की व्यवस्था भी स्वयं ही करते थे।

जिस तरह 'जूठन' में सेवक राम मसीही द्वारा दलितों को शिक्षा देने के अभियान का उल्लेख है उसी तरह सूरजपाल चौहान ने भी अपनी आत्मकथा 'तिरस्कृत' में बाबूलाल मसीह के प्रयासों का उल्लेख किया है। उनके प्रयासों के बदले मोहल्ले के ठाकुर–ब्राह्मण उनकी पिटाई तक करते हैं––

> ''छर्रा वाले पादरी बाबूलाल मसीह ने हमारे गाँव के ठाकुरों–बामनों की लाठियों की मार न जाने कितनी बार सही। XXX यह बात तो ठीक थी कि बाबूलाल मसीह छर्रा कस्बे के आस–पास के गाँवों में जाकर दलित बस्तियों में ईसाई–धर्म का प्रचार–प्रसार करते थे, लेकिन इसके साथ–साथ वह दलितों को शिक्षा का महत्व भी समझाया करते थे। आज उनके ही अथक प्रयासों से छर्रा के आस–पास के गाँवों के दलितों में जो थोड़ी–बहुत शिक्षा दिखाई पड़ रही है। उनके इस योगदान को नजर–अंदाज नहीं किया जा सकता।''[73]

एक तो आज़ादी के सालों–साल बाद भी दलित शिक्षा की ओर समाज और सरकारों का ध्यान नहीं जा रहा था। पाठशालाओं में उनकी स्थिति बुरी हो रही थी। दूसरे, मुहल्ले के सवर्ण दलितों को पाठशाला जाने नहीं देते थे। इसके लिए उनके सामने तमाम तरह की रुकावटें पैदा कर देते थे। कभी रोज़ी–रोटी के लिए मजदूरी, कभी साहूकारों का कर्ज उतारने के लिए मज़दूरी तो कभी बेगारी के लिए मज़दूरी। अगर किसी तरह पाठशाला पहुँच भी गए तो उन्हें सबसे अलग बैठाए रख जाता, पढ़ाने की जहमत कोई नहीं उठाता था। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' का एक उदाहरण देखें––

> ''हम तीनों भंगी मोहल्ले के बालकों को गाँव की पाठशाला में पढ़ रहे सभी बच्चों से दूर पीपल के नीचे बैठने को कहा जाता। वहीं पास में एक गंदी नाली थी, जिसमें गाँव के सभी सवर्ण लोगों के मौहल्ले की गंदगी बहती रहती। मैं, श्रीपाल और रामखिलाड़ी सारा–सारा दिन हाथों में तख्तियाँ लिए बैठे रहते। कभी किसी मास्टर का ध्यान आ

---

73. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, पृष्ठ : 28

जाता तो हमारी घोटा लगी तख्तियों पर पैंसिल से हरफ खींच जाता और हम उन हरफों पर खड़िया पोत लिया करते थे। कई माह तक हम तीनों के परिवार के सदस्य इसे ही स्कूल जाना और पढ़ना समझते रहे।''[74]

सवर्ण अध्यापकों को केवल इतने से ही संतोष नहीं होता। अगर दलित छात्र मेहनत और लगन के भरोसे आगे की कक्षाओं तक पहुँच जाते हैं तो उन्हें तरह–तरह से प्रताड़ित करने का उपाय खोजा जाता है। उन्हें अपमानित और हतोत्साहित करने के लिए षड्यन्त्र किये जाते हैं। कक्षा में उन्हें जाति के नाम पर गालियाँ देकर सम्बोधित किया जाता है और जाति आधारित व्यवसाय का उल्लेख करके उन्हें अपमानित किया जाता है। फेल किये जाने या स्कूल से निकाल दिये जाने के डर से दलित विद्यार्थी कुछ बोल नहीं पाते। एक बार ओम प्रकाश वाल्मीकि को अध्यापक ने गणित का सवाल हल कराने के लिए घर बुलाया, लेकिन बिना बताये घर से ग़ायब हो गए और अध्यापक की पत्नी ने उन्हें गेहूँ पिसवाने के लिए भेज दिया। यही नहीं, उन्हें प्रायोगिक परीक्षा में अंक भी कम दिये गए और बारहवीं की बोर्ड परीक्षा में तो षड्यन्त्र करके फेल कर दिया गया।

दरअसल प्रायः सवर्ण अध्यापक दलित विद्यार्थियों की पढ़ाई और तर्कशीलता बर्दाश्त नहीं कर पाते। एक बार ओम प्रकाश वाल्मीकि की कक्षा में एक सवर्ण अध्यापक ने लगभग रुआँसे स्वर में द्रोणाचार्य द्वारा भूखे अश्वत्थामा को दूध की जगह आटे का घोल पिलाने का करुण प्रसंग सुनाया। ओम प्रकाश वाल्मीकि ने सवाल किया कि भंगी लोग भी तो चावल का माड़ दूसरों से माँगकर पीते हैं, फिर उनकी कथा महाकाव्यों में क्यों नहीं लिखी गई ? इस पर–

''मास्टर साहब चीख उठे थे, ''घोर कलयुग आ गया है....जो एक अछूत जबान जोरी कर रहा है।'' उस मास्टर ने मुझे मुर्गा बना दिया था। पढ़ाना छोड़कर बार–बार मेरे चूहड़े होने का उल्लेख कर रहा था। उसने शीशम की एक लम्बी–सी छड़ी किसी लड़के को लाने का आदेश दिया था। ''चूहड़े के, तू द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करे है....ले तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूँगा....'' उसने मेरी पीठ पर सटाक–सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया था। वह महाकाव्य आज भी मेरी पीठ पर अंकित है।''[75]

---

74. सूरजपाल चौहाल, तिरस्कृत, पृष्ठ : 29

75. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 34–35

प्रश्न उठाना हमेशा संकट भरा रहा है। और अगर वह प्रश्न तथाकथित धार्मिक मिथकों पर हो तो फिर संकट और भी गहरा हो जाता है। इस पर भी अगर प्रश्नकर्ता दलित हो, फिर तो अपराध अक्षम्य है। यही अक्षम्य अपराध ओम प्रकाश वाल्मीकि ने किया था। इसी तरह दलितों को विद्यालयों में प्रताड़ित करके उन्हें पढ़ाई छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। आर्थिक संकट पढ़ाई छोड़ने में और भी सहायक हो जाता है। कदम–कदम पर संघर्षों से भरी ज़िंदगी में अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए दलितों को अपना पूरा बचपन दाँव पर लगाना पड़ता है।

डी0आर0 जाटव के बचपन में ही पिता गुज़र गए तो उन्हें रोज़ी–रोटी के लिए माँ के साथ आढ़तिये की दुकान पर मज़दूरी करनी पड़ी। किशोरावस्था में ही शादी हो गई तो पत्नी के गहने बेचकर परचून की दुकान खोली और दिन भर दुकानदारी करने के बाद रात में पढ़ाई करते––

> ''मैं दिन भर दुकान में बैठा रहता, रात को मिट्टी के तेल से जलती हुई लैम्प की रोशनी में अध्ययन किया करता था। सन् 1950 में मैंने प्राइवेट छात्र के रूप में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तर–प्रदेश शिक्षा बोर्ड से दी। यहाँ भी प्रकृति ने साथ नहीं दिया। जब मैंने परीक्षा का परिणाम अखबार में देखा तो मेरा रोल नम्बर कहीं नहीं, मैं हाईस्कूल परीक्षा में असफल रहा। यह कैसे हुआ ? इसकी मैंने चिन्ता कम से कम की और अधिक परिश्रम के साथ अध्ययन में संलग्न हो गया। मैं पुनः परीक्षा में बैठा, नतीजा आया और में 1951 की हाईस्कूल परीक्षा में द्वितीय श्रेणी से उत्तीर्ण हुआ जो हमारे लिए एक अभूतपूर्व उपलब्धि थी।''[76]

इतनी कठिनाई से प्राप्त शिक्षा के उद्देश्य को दलित छोड़ना नहीं चाहता और उसे प्राप्त करने के लिए लगातार संघर्ष करता चलता है। अपने उद्देश्य तक पहुँचने से पहले उसे हर चरण पर एक नए संकट का सामना करना पड़ता है और उससे निपटने के लिए उसे नए संघर्ष की तैयारी करनी पड़ती है। डी0आर0 जाटव को हाईस्कूल पास करने के बाद और भी संघर्ष करना पड़ा। कई बार बीच–बीच में पढ़ाई छोड़कर नौकरी भी करनी पड़ी। एम0ए0 की पढ़ाई के दौरान आगरा के छात्रावास में रहते हुए मथुरा के चौबे छात्रों के भेदभाव का सामना करना पड़ा। वजीफा न मिलने पर प्राचार्य की शिकायत की तो उल्टे

---

76. डी0आर0 जाटव, मेरा सफ़र, मेरी मंज़िल, पृष्ठ : 13

इन्हें ही डाट पड़ी। पी–एच0डी0 की मौखिक परीक्षा में एक परीक्षक द्वारा हतोत्साहित करने वाले प्रश्न पूछे गए, शोध विषय से परीक्षक के असंतुष्ट होने के कारण पी–एच0डी0 डिग्री में विलम्ब भी हो गया, उसे पूरा करने के लिए फिर से नया संघर्ष करना पड़ा।

ओम प्रकाश वाल्मीकि को भी अपनी पढ़ाई पूरी करने के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा। षड्यन्त्र के कारण बारहवीं फेल होने पर बहुत मुश्किल से देहरादून में प्रवेश तो ले लिया, लेकिन पढ़ाई का खर्च उठाना बहुत कठिन रहा। दूसरों की उतरन पहनकर स्कूल जाने पर सहपाठी चिढ़ाते थे। एक बार तो कुछ सहपाठी उनकी ढीली–ढाली पुरानी पैंट–शर्ट खींच–खींचकर चिढ़ाने लगे; तब बड़ी मुश्किल से उनहोंने छुटकारा पाया, वर्ना कपड़े इतने पुराने और घिसे हुए थे कि फट ही जाते। सूरजपाल चौहान को भी पढ़ाई के दौरान घर चलाने के लिए कमाई करनी पड़ती थी।

'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौसल्या बैसंत्री को दलित होने के साथ–साथ स्त्री होने के कारण जीवन भर दोहरे–तिहरे शोषण का सामना करना पड़ा। यह शोषण और संकट उन्हें शिक्षा प्राप्ति के दौरान और भी झेलना पड़ा। उनके माता–पिता समझदार थे, बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर से प्रेरित–प्रभावित थे; फलस्वरूप शिक्षा का भी महत्व समझते थे, किंतु दलित समाज की लड़की के लिए शिक्षा ग्रहण करना बहुत ही कठिन था। स्कूल में दलित छात्राएँ नहीं थीं, उनकी सहपाठी छात्राएँ पटेल, ब्राह्मण या अन्य सवर्ण जातियों की थीं। आर्थिक समस्याओं तथा जाति के कारण उनमें हमेशा हीन भावना रहती थी, इसलिए वे प्रायः सबसे बचकर अलग रहती थीं, अपना रूखा–सूखा खाना अलग छिपकर खाती थीं। बाद में एक छात्रावास में रहकर पढने का मौका ज़रूर मिला, लेकिन वहाँ भी उन्हें बचकर ही रहना पड़ता था। ब्राह्मण लड़कियों के सामने हीन भावना के कारण वे हमेशा हतोत्साहित होती रहीं––

> ''मैं लड़कियों के सामने अपना डिब्बा नहीं खोलती थी। मुझे अपने घटिया डिब्बे और घटिया रोटी को उनके सामने खोलने में शर्म आती थी। मैं दीवार की ओर मुँह करके खाना खाती थी ताकि कोई देख न ले। xxx मैं अस्पृश्य हूँ इसका मुझे बहुत दुख होता था और मैं हीनता महसूस करती थी। कोई मुझे मेरी जाति न पूछ बैठे, इसका मुझे सदैव डर रहता था। इसलिए मैं अकेली चुपचाप खाने की छुट्टी में या स्कूल शुरू होने के पहले एक ओर बैठी रहती थी। लड़कियों के साथ खेलने में भी डर लगता

था। मैं दूर अलग बैठकर उनका खेल देखती थी। xxx एक बार जिसका मुझे ज्यादा डर था वही बात हो गई। कुनबी लड़कियों ने मुझसे पूछा कि मेरी जाति क्या है।''[77]

इतनी हीन भावना और संघर्षमय जीवन के बावजूद दलित अपनी शिक्षा पूरी करता है और जीवन में सफल भी होता है, यह वास्तव में सब के लिए प्रेरणादायी है। अपने संघर्षों के बल पर शिक्षा प्राप्त करके मोहनदास नैमिशराय प्रतिष्ठित पत्रकार और साहित्यकार बने, ओम प्रकाश वाल्मीकि ऑर्डिनेंस फैक्टरी में उच्च पदस्थ अधिकारी बने, माता प्रसाद जी उ0प्र0 में मंत्री तथा अरूणाचल प्रदेश के राज्यपाल बने, डी0आर0 जाटव भी राजस्थान लोक सेवा आयोग से चयनित होकर डिग्री कॉलेज के असिस्टेंट प्रोफेसर बने और प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त हुए। सूरजपाल चौहान, कौसल्या बैसंत्री, रूपनारायण सोनकर आदि सभी ने जीवन में सफलता प्राप्त की तो केवल शिक्षा के बल पर।

दलित आत्मकथाओं में वर्णित शिक्षा की स्थिति पूरी भारतीय शिक्षा व्यवस्था और समाज के उसके प्रति ग़ैर ज़िम्मेदाराना रवैये की यथार्थ तस्वीर है। इसे झुठलाते हुए तमाम दलितों ने न केवल निजी जीवन में सफलता प्राप्त की बल्कि अपने संघर्षपूर्ण आचरण से सार्वजनिक जीवन में भी प्रेरणा स्रोत बने। यही दलित आत्मकथाओं और आत्मकथाकारों की सार्थकता है।

6. यथास्थितिवाद के प्रति विद्रोह

समाज में जो विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग होता है, वही वर्चस्वशाली होता है ; और जो वर्चस्वशाली होता है, वही विशेषाधिकार प्राप्त करता है। तो वर्चस्वशाली और विशेषाधिकार, दोनों परस्पर पूरक हैं। दोनों एक दूसरे के कार्य–कारण सम्बन्धी हैं। विशेषाधिकार–प्राप्त और वर्चस्वशाली वर्ग प्रायः शोषक ही होता है; और शोषित वर्ग उसके शोषण से बचने की कल्पना में प्रायः उसका विरोधी होता है। लेकिन वह हमेशा उसका विरोधी नहीं होता; और विद्रोही तो अपवाद स्वरूप ही होता है।

ब्राहमणवादी विशेषाधिकार–प्राप्त वर्चस्वशाली वर्ग के विरुद्ध दलितों की स्थिति

---

77. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 41

हजारों साल के शोषण के बावजूद आज तक विद्रोह की स्थिति तक नहीं पहुँच सकी है। वह अभी असहमति और विरोध के संक्रमण स्थल पर है। विद्रोह तो अपवादस्वरूप ही है। यह अपवादस्वरूप विद्रोह भी सार्थक तब होगा जब इसमें सामूहिक शक्ति सक्रिय हो।

हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में ब्राहमणवादी शोषण के विरुद्ध जगह–जगह असहमति और विरोध दिखाई पड़ता है, जो समय की ज़रूरत के हिसाब से तो अपर्याप्त लगता है, लेकिन समाज में दलितों की दयनीय दशा के सापेक्ष उसकी भूमिका काफी महत्वपूर्ण और निर्णायक कही जा सकती है।

'अपने–अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास नैमिशराय के भीतर बचपन से ही विद्रोह की भावना थी। प्रायः वे जाति भेद की रेखाएँ लांघ जाते थे। एक बार तो मंदिर के पुजारी ने प्रसाद बाँटते समय उन्हें 'चमार का' कह दिया, इस पर उन्होंने उसका दिया प्रसाद वहीं थूक दिया और फिर कभी मन्दिर न जाने का निश्चय किया––

> ''मेरे भीतर ज्वालामुखी उग आया था जिसने मुझे झिंझोड़ कर रख दिया था। मैंने आवेश में वहीं प्रसाद पुजारी के सामने थूक दिया था। ''थू, तुम्हारा मंदिर और तुम्हारा प्रसाद....।'' कहकर मैं चला आया था। उस दिन के बाद मैं मंदिर नहीं गया था। मंदिर मुझसे मीलों दूर हो गया था जैसे मंदिर के भीतर रखे पत्थर के देवताओं के प्रति नफरत–सी हो गई थी। शायद यहीं से मेरे भीतर कोई नास्तिक पुरुष आकर बैठ गया था।''[78]

पारिवारिक–सामाजिक संस्कारों के अनुरूप किसी व्यक्ति में धर्मस्थल और देवी–देवताओं के प्रति आकर्षण बचपन से ही हो जाता है, लेकिन यदि यह सब पाखण्ड लगने लगे तो उसके प्रति प्रतिकर्षण भी स्वाभाविक है। एक शर्त यह भी है कि व्यक्ति सचेत है। सचेत व्यक्ति इतना स्वाभिमानी तो होता ही है कि अकारण किसी के द्वारा किया गया अपना अपमान बर्दाश्त नहीं करता। पुजारी के व्यवहार के विरुद्ध बालक मोहनदास नैमिशराय की प्रतिक्रिया शोषण, भेदभाव और अपमान के प्रति विद्रोह की शुरूआत है। विद्रोह अक्सर भीतर पल रहा होता है, लेकिन विपरीत परिस्थितियों के कारण वह अभिव्यक्त नहीं हो पाता। लेकिन वह हमेशा अनुकूल परिस्थिति का इन्तज़ार भी नहीं करता। ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में उस एक घटना का उल्लेख है

---

78. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठः 31–32

जिसके बाद उनके परिवार ने जूठन उठाना हमेशा के लिए छोड़ दिया। लेखक के गाँव में सुखदेव सिंह त्यागी की लड़की की शादी थी। जब बाराती खाना खाकर चले गए तब लेखक की माँ अपने बच्चों के लिए खाना देने के लिए गिड़गिड़ाई थी ; इस पर सुखदेव सिंह की अपमानजनक बात उसे सुननी पड़ी––

> ''टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है...उप्पर से जाकतों के लिए खाणा माँग री है ? अपणी औकात में रह चूहड़ी ! उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।'' XXX माँ का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, ''इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा।.....''[79]

जिस जूठन के भरोसे पीढ़ी–दर–पीढ़ी पेट पल रहा हो, जिनकी मेहनत–मज़दूरी करके जीवन–यापन हो रहा हो, जिसके अलावा अन्य कोई विकल्प न हो, उसे इतनी आसानी से त्याग देना आश्चर्यजनक है। लेकिन लेखक की माँ ने ऐसा किया, क्योंकि पूरी विनम्रता के बाद भी उसका स्वाभिमान सुरक्षित नहीं रहा। अगर कोई विनम्रता के साथ अपनी गुलामी करवाए, तो विरोध की संभावना कम होती है, लेकिन अगर किसी के स्वााभिमान के विरुद्ध उससे व्यवहार किया जाय तो विरोध स्वाभाविक है। एक अनिवार्य शर्त यहाँ भी लागू होगी, स्वाभिमान के प्रति जागरूकता। दलित आत्मकथाओं में शोषण के विरूद्ध विद्रोह या विरोध के जितने भी उदाहरण मिलते हैं, उन सब में एक बात सामान्य है, स्वाभिमान की रक्षा। भौतिक संपदा की क्षति की इसमें कोई समस्या नहीं। समस्या तब होती है जब स्वाभिमान पर खतरा हो। बालक ओम प्रकाश वाल्मीकि से जब हेडमास्टर ने पूरे विद्यालय में दो दिन तक झाड़ू लगवाई तो पिता ने विरोध किया।

> ''कोण–सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे है.....''[80]

लेकिन यह विद्रोह केवल बातों तक ही रहा, क्योंकि आखिर बच्चे को पढ़ाने का एकमात्र विकल्प वही स्कूल था। बाद में पिता को प्रधान के सामने गिड़गिड़ाना पड़ा और प्रधान की सिफारिश पर ही ओमप्रकाश की पढ़ाई फिर से शुरू हो सकी।

---

79. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 21

80. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 26

भारतीय समाज में दलितों की जो दुर्दशा है, उसका पहला बड़ा कारण तो यही है कि समाज का वर्चस्वशाली–प्रभुत्वशाली वर्ग अपना एकाधिकार–विशेषाधिकार छोड़ना नहीं चाहता ; दूसरा बड़ा कारण यह है कि दलित–शोषित वर्ग अपना अधिकार पाने के लिए संघर्ष नहीं करना चाहता ; जो स्थिति है उसे बदलने का प्रयास नहीं करना चाहता। दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त ये छोटे–छोटे प्रसंग यथास्थिति को बदलने की शुरूआत हैं।

'जूठन' में एक प्रसंग यह भी आता है जब ओम प्रकाश द्वारा जानवरों की खाल उतारने से भाभी ने मना कर दिया। यहाँ कोई विरोधी नहीं, विरोधी है तो भंगियों द्वारा मृत पशु की खाल निकालने की परम्परा और संस्कृति, जो रूढ़ि बनकर पूरे दलित समाज को विकास से रोक रही है। 'इनसे ये ना कराओ.... भूखे रह लेंगे.... इन्हें इस गंदगी में न घसीटो.....' – लेखक की भाभी का यह कथन भी वास्तव में यथास्थितिवाद के प्रति विद्रोह है, जो शोषण की परम्परा को ख़त्म करने की शुरूआत है। कई बार यह विद्रोह इतना शांत होता है कि उसमें विरोध की भनक तक नहीं होती। वहाँ असहमति ही यथास्थिति के विरुद्ध माहौल बनाती है। कौसल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में ऐसी ही एक घटना का उल्लेख किया है। अस्पताल के एक दरबान ने उन्हें देह व्यापार की ओर ढकेलने के इरादे से एक सूनी कोठरी में भेज दिया। थोडी देर बाद कमरे में एक पचास साल का आदमी आया तो लेखिका को सारी बात समझ में आ गई––

> ''मेरी कच्ची उम्र देखकर वह कुछ सहम गया था। फिर भी उसने एक कागज पर कुछ लिखकर मेरे सामने रखा। उसमें लिखा था कि मैं तुमसे प्यार करना चाहता हूँ। उसके घर में घुसते ही मुझे कुछ कल्पना तो आई थी। पता नहीं, मुझमें कहाँ से हिम्मत आई। मैंने उससे कहा कि आज मुझे बहुत पढ़ना है, कल मेरी परीक्षा है। उसके बाद आऊँगी और मैं उठ खड़ी हुई।''[81]

यहाँ विद्रोह भले न हो, लेकिन प्रत्युत्पन्नमति का प्रयोग करते हुए यथास्थिति को ज्यों–का–त्यों स्वीकार करने की बजाय उसे बदलने की कोशिश है। यह कोशिश ही बड़ी सफलता है। इतनी सी कोशिश करके लेखिका वहाँ से सुरक्षित निकल आई। इसके विपरीत, हो सकता था कि उसे जीवन भर उसी शिकंजे में जकड़े रहना पड़ता। वैसी परिस्थिति में तीखा विरोध भी संभव नहीं था। उस एकांत कोठरी में ऐसा करना ख़तरनाक

---

81. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 66

हो सकता था। इसके विपरीत एक अन्य घटना में लेखिका ने एक लड़के के गाल पर दो चाँटे मारे। दरअसल लेखिका अपनी बुआ के घर से वापस आ रही थी, तभी रास्ते में––

''एक घर की दीवार से सटकर कुछ गुण्डे किस्म के आवारा लड़के बैठे ताश खेल रहे थे। उन लड़कों में से एक लड़का हमारी लाइन में रहता था और निहायत शरीफ था, शादीशुदा और दो बच्चों का बाप भी था। वह मेरे पास आया और मेरी बाँहों में अपनी बाँहें डाल दीं। मैंने बहुत जोर लगाकर बाँहें छुड़ा लीं और दो चाँटे कसकर उसके गाल पर मारे।''[82]

इतना ही नहीं, लेखिका की माँ ने उसके घर शिकायत कर दी। लड़के ने उनकी माँ के पैर पकड़कर माफी माँगी और कभी सामने आने पर हमेशा सिर झुका लेता था। आज भी लड़कियों के साथ जो बड़ी–बड़ी दुर्घनाएँ होती हैं, उनकी भूमिका ऐसी ही छोटी हरकतों से बनती है। अगर कौसल्या बैसंत्री की तरह लड़कियाँ पहली ही हरकत पर लड़कों का कड़ा विरोध करें तो वैसी स्थिति आए ही न, जैसी कि अक्सर आ जाती हैं।

दलित आत्मकथाओं में यथास्थितिवाद के विरुद्ध सबसे सशक्त विद्रोह 'नागफनी' में देखने को मिलता है। रूपनारायण सोनकर ने ऐसी तमाम घटनाओं का उल्लेख किया है जहाँ दलितों ने सवर्ण शोषकों के विरुद्ध खुली लड़ाई की है। बल्कि नागफनी ऐसे ही विद्रोहों का संकलित दस्तावेज ही है। ऐसी ही एक घटना में लेखक को तब कुँए पर रखी रस्सी–बाल्टी से ब्राहमणों पर हमला करना पड़ा, जब कुँए पर पानी पीते समय उस पर लाठियों से आक्रमण कर दिया गया। लेखक ने अकेले ही कई हमलावारों को घायल कर अपनी जान बचाई। अत्याचार के विरुद्ध ऐसी लड़ाई को न्यायोचित ठहराते हुए लेखक ने महत्वपूर्ण तर्क दिये हैं––

''आदमी को पहले हमला नहीं करना चाहिए। लेकिन अपनी रक्षा जरूर करनी चाहिए। यदि हमला करने वाले आपकी जान लेने पर उतारू हो जाएँ तो सामने वाले पर जोरदार प्रहार करना चाहिए। वह आदमी बहुत बड़ा कायर होता है जो बगैर संघर्ष किए हुए मरता है। दलितों की आत्मा इतनी दबा दी जाती है कि वे संघर्ष करना भूल जाते हैं। वह इसीलिए सवर्णों से हर जगह पिटते रहते हैं। जिस दलित की आत्मा

---

82. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 60

दब जाती है वह हट्टा–कट्टा होते हुए भी दुबले–पतले अत्याचारी सवर्ण से हार जाता है।''[83]

रूपनारायण सोनकर ने अपनी आत्मकथा 'नागफनी' में ऐसे बहुत से प्रसंगों का उल्लेख किया है जिनमें उन्होंने अपने उपर्युक्त विचारों को व्यवहार में उतारा है। एक बार उनके रिश्तेदारों को अपने सामने चारपाई पर बैठे देखकर शिवभजन अवस्थी सबको गालियाँ देने लगा तो लेखक ने विरोध किया। विवाद बढ़ते–बढ़ते बात मार–पीट तक आ गई, लेकिन लेखक ने हिम्मत नहीं हारी। ब्राह्मण और दलित, दोनों ओर के नौजवान हथियारबन्द होकर मरने–मारने पर उतारू हो गए। बाद में यादवों और कुर्मियों की धमकी पर ब्राहमणों को यह प्रथा बन्द करनी पड़ी कि उनके सामने कोई दलित चारपाई पर नहीं बैठेगा। इसी तरह एक बार लेखक और उसके साथियों ने गाँव के दबंग इन्द्रजीत सिंह की पिटाई की थी, क्योंकि वह अक्सर दलित लड़कियों को डरा–धमकाकर रात में अपने ट्यूबवेल पर बुला कर उनका बलात्कार करता था। एक रात लड़की की जगह लड़की का भाई, लेखक स्वयं तथा अन्य साथी ट्यूबवेल पर पहुँच गए ––

''दो लड़कों ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए। दो लड़को ने उसके दोनों पैर पकड़ लिए। उसके हाथ–पैर ट्यूबवैल के सहारे रस्सी से बाँध दिए। xxx एक मुगरी से उसके अण्डकोशों पर खूब प्रहार किए गये। वह खूब चिल्ला रहा था। लड़की के भाई ने कहा–''साले ! अगर आगे किसी दलित औरत, लड़की को अपनी हवस का शिकार बनाया तो तेरी इसी तरह धुनाई करेंगे।''[84]

एक और बलात्कारी गुंडे लखना सिंह को मार गिराने के प्रसंग का विस्तृत उल्लेख लेखक ने अपनी इस आत्मकथा में किया है। 'नागफनी' में यथास्थितिवाद के प्रति विद्रोह की जितनी घटनाएँ हैं उतनी अन्य किसी भी दलित आत्मकथा में नहीं हैं। ऐसे विद्रोह केवल शारीरिक आक्रमण या उससे बचाव के रूप में नहीं हैं, बल्कि परम्परा के नाम पर दलित विरोधी कुरीतियों के विरुद्ध भी हैं। हरिशंकर अवस्थी के इस संवाद कि 'गोरा चमार ब्राह्मण की संतान होता है', लेखक ने यह कहकर ज़वाब दिया कि 'काला ब्राह्मण चमार की संतान होता है'। इतना ही नहीं, होलिका दहन के अवसर पर ब्राह्मणों द्वारा दलित स्त्रियों

---

83. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 26

84. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 71

पर केन्द्रित अश्लील नारों के जबाब में लेखक तथा उसके साथियों ने वही नारे ब्राह्मणों के विरुद्ध लगाए। इसके बाद दोनों गुटों में मार–पीट हुई। इस ज़ोरदार जबाब के बाद ही ब्राह्मणों को अहसास हुआ कि होली के अश्लील गीत स्त्री–विरोधी और असामाजिक हैं। बाद में बलवीर सिंह यादव द्वारा बीच–बचाव किये जाने पर लेखक ने स्त्रियों के प्रति अपना सम्मान जताते हुए अपना पक्ष रखा––

> ''हमारा उदेश्य ब्राह्मणों को गाली देना नहीं है। हमारा उद्देश्य अपनी औरतों को अपमानित होने से बचाना है। हम तो यह भी चाहते हैं कि औरत–आरत होती है, चाहे वह दलित हो या गैर–दलित। सभी औरतों की गरिमा, मान–सम्मान की रक्षा करना हम सभी का कर्तव्य है। ब्राह्मणों को नसीहत सिखाना था। समाज में अपमानित करने वाली परम्पराओं को बन्द करना मात्र दलितों का उद्देश्य है''[85]

वास्तव में सम्पूर्ण दलित साहित्य का उद्देश्य समता, स्वतन्त्रता, बन्धुता पर आधिरत समाज की स्थापना है। दलित साहित्य से प्रेरणा–प्राप्त दलित समुदाय के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह का भी यही उद्देश्य है। उपर्युक्त सभी उदाहरणों से यही प्रमाणित होता है कि जब तक कुरीतियों का जबाब उसी विध्वंसक रूप में न दिया जाय, तब तक उसका प्रभाव व्यापक समाज पर नहीं पड़ता। लकिन इस तरह का जबाब दे पाना सभी के लिए संभव नहीं। 'झोपड़ी से राजभवन' के लेखक माता प्रसाद वरिष्ठ राजनीतिज्ञ हैं। उनकी आत्मकथा में भी जातिवाद और अत्याचार एवं भेद–भाव के छिट–पुट उदाहरण हैं, लेकिन उनके विद्रोह का उदाहरण एक भी नहीं मिलता। इसके विपरीत सूरजपाल चौहान ने बचपन में ही माँ के साथ अश्लील हरकत करने वाले ठाकुर का विरोध किया था। अपने ऑफ़िस के उप प्रबन्धक के0सी0 मल्होत्रा द्वारा बार–बार जाति के आधार पर किये जाने वाले भेद–भाव और अपमान के बदले उन्होंने ऑफ़िस में ही उसकी पिटाई कर दी। रूढ़िवादी समाज के द्वारा स्थापित कुरीतियों में जकड़ी व्यवस्था के विरुद्ध सशक्त विद्रोह ही यथास्थिति को बदलने का एक महत्वपूर्ण उपाय है। यदि हम यथास्थितिवाद के विरुद्ध विद्रोह नहीं करते हैं तो हम स्वयं भी यथास्थितिवादी ही हैं।

---

77. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 71

चौथा अध्याय

दलित आत्मकथाओं का भाषिक चिन्तन

6. भाषा, समाज और संस्कृति
7. अभिव्यक्ति का नया मुहावरा
8. उत्पीड़न और संघर्ष से उपजी भाषा का बदलता चेहरा
9. भाषा में स्थानीयता के प्रति आग्रह
10. भाषा में श्लीलता–अश्लीलता

चौथा अध्याय

दलित आत्मकथाओं का भाषिक चिन्तन

शिल्प और संवेदना, दोनों ही स्तरों पर दलित साहित्य ने अपने नये मानदण्ड निर्मित किये हैं और विभिन्न विधाओं की रचनात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से उनका विकास भी किया है। परम्परागत हिन्दी साहित्य की विभिन्न धाराओं से इतर इस धारा का दृष्टिकोण पूरी तरह यथार्थपरक है। दलित आत्मकथाओं ने आत्मकथा विधा को जिस ऊँचाई पर स्थापित किया है, उस पर अन्य किसी विधा का पहुँच पाना असम्भवप्राय है। जैसे हर साहित्य–प्रेमी अपने जीवन–काल में एक बार कहानीकार या कवि के रूप में पहचाने जाने की आकांक्षा करता है, वैसे ही अब सामाजिक जागरूकता का दावा करने वाला प्रायः हर साहित्यकार अपनी आत्मकथा के माध्यम से विमर्शों की समृद्धि में अपना योगदान देना चाहता है।

दलित, आदिवासी, स्त्री, अल्पसंख्यक आदि के नाम से प्रचलित समकालीन विमर्शों में दलित विमर्श सबसे लोकप्रिय और स्पृहणीय है। दलित आत्मकथाओं ने जहाँ साहित्यिक अभिव्यक्ति का नया मुहावरा गढ़ा है, स्थानीयता के प्रति विशेष आग्रह तथा उग्रता और आक्रोश के माध्यम से इस विधा ने भारतीय समाज, भाषा एवं संस्कृति के जटिल और प्रायः अनछुए रह गए सम्बन्ध को उजागर करने का प्रयास किया है। भाषा में निहित भेद–भाव, शोषण, अन्याय–अत्याचार, विद्रोह, आक्रोश, श्लीलता–अश्लीलता आदि के तत्व किस प्रकार पूरी संस्कृति को प्रेरित–प्रभावित और परिवर्तित करते हैं, यह दलित आत्मकथाओं की भाषिक अभिव्यक्ति के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

1. भाषा, समाज और संस्कृति

मानव–सभ्यता के विकास में तमाम छोटे–बड़े अविष्कारों और खोजों ने समय–समय पर व्यापक परिवर्तन किये हैं। मगर इनमें से कुछ आविष्कार ऐसे भी हैं

जिन्होंने पूरी मानव सभ्यता को क्रान्तिकारी परिवर्तन और विकास से समृद्ध किया है। आग और पहिये के साथ ही भाषा भी एक ऐसा ही अविष्कार है जो समय के साथ–साथ लगातार महत्पूर्ण होता जा रहा है, जिसकी उपयोगिता में नाम मात्र की भी कमी नहीं आई है।

मानव सभ्यता के विकास में जितना महत्वपूर्ण योगदान भौतिक तत्वों का है, सांस्कृतिक तत्वों का उनसे कम नहीं। लेकिन इन्हें वह महत्व नहीं प्राप्त हो सका जिसकी ये हकदार हैं। हज़ारों साल के इतिहास में मानव सभ्यता ने जो भी भौतिक या अभौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं उनमें भाषा का योगदान सर्वाधिक है। सरल, सहज और व्यावहारिक शब्दों में कहें तो भाषा भाव, विचार और ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम है, लेकिन इस को सत्य सिद्ध करने में कई जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। सामान्यतः अभिव्यक्ति का हर माध्यम भाषा है। इस दृष्टि से गायन, वादन, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, अभिनय, स्थापत्यकला आदि तमाम कलात्मक विधाएँ भी भाषा का ही एक रूप हैं; साथ ही विभिन्न पशु–पक्षियों, जीव–जन्तुओं द्वारा की गई अभिव्यक्तियाँ भी भाषा ही हैं। लेकिन यहाँ हम भाषा के जिस रूप की बात कर रहे हैं वह मनुष्य द्वारा प्रयोग की जाने वाली मौखिक या लिखित भाषा है इस तरह यह भाषा मानव सभ्यता के विकास के सबसे महत्वपूर्ण अविष्कारों में से एक हुई।

भाषा, समाज और संस्कृति का परस्पर आश्रित अनवार्य सम्बन्ध है। भाषा सामाजिक अन्तःक्रिया के माध्यम से ही विकसित होती है और समाज भाषा के ही माध्यम से अपने भावों, विचारों, और ज्ञान का आदान–प्रदान करता है। भाषा और समाज के समन्वय से ही संस्कृति का भौतिक और अभौतिक विकास हो पाता है।

मानव सभ्यता के विकास में स्मृति और परम्परा ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। पूर्ववर्ती पीढ़ी जो कुछ सीखती है, यदि परवर्ती पीढ़ी तक उसका हस्तान्तरण न हो तो उसे फिर शून्य से शुरुआत करनी पड़ेगी। मनुष्य ने अपने अर्जित ज्ञान को स्मरण रखने के लिए संकेतों या प्रतीकों का प्रयोग किया और उन्हीं के माध्यम से अपने अर्जित ज्ञान व अनुभव को परम्परा के रूप में परवर्ती पीढ़ी तक स्थानान्तरित करता रहा। 'भाषा–विज्ञान एवं भाषा–शास्त्र' में डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी लिखते हैं––

> ''बाल्याकाल में हम अपने से बड़ों का तथा अपने समकालीन व्यक्तियों का अनुकरण करके भाषा सीखते हैं। इस प्रकार तथा अन्य साधनों से जो ज्ञान अर्जित किया जाता है, उसे हम अपनी अगली पीढ़ी को दे देते हैं। यह भाषा का ही महत्व है कि मानवीय ज्ञान संग्रहीत होता रहता है और भावी पीढ़ी को नये ढंग से शून्य से ज्ञान–वृद्धि करते हुए नया वाड्.मय नहीं तैयार करना पड़ता, अपितु पूर्वजों के ज्ञान का लाभ उठाते हुए शीघ्र ज्ञान–वृद्धि का अवसर मिलता है।''[1]

भाषा की यही वह विशेषता है जो इसे सबके लिए सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियों में से एक बनाती है तथा साथ ही अन्य सांस्कृतिक–भौतिक उपलब्धियों का निमित्त बनाती है। भाषा की इस अद्भुत शक्ति को पहचानने और स्वीकार किये बिना इससे होने वाले लाभ को प्राप्त करना असम्भव है।

मानव समाज के लिए भाषा ज्ञान का वाहक है, साथ ही यह स्वयं भी मानव समाज के व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रयास से विकसित होती है। संकेत अमुर्त होते हैं, उनका कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। समाज ने ही उन संकेतों के कुछ मुर्त अर्थ निश्चित किये ताकि उनका उपयोग सब के लिए समानार्थी हो तथा एक समूह के मध्य भाव–विचार–ज्ञान का आदान–प्रदान सुगमतापूर्वक संभव हो। इसी तरह ध्वनि भी अमूर्त है, उसका भी कोई निश्चित अर्थ नहीं। मानव समाज ने अपनी सुविधा के लिए ध्वनियों का अर्थ निश्चित किया तो भाषा का यह क्रमिक विकास अमूर्तन से मूर्तन की ओर हुआ। यह एक सामूहिक प्रक्रिया है, व्यक्तिगत नहीं। यही कारण है कि अलग–अलग ध्वनिसमूहों के अपने अलग–अलग प्रतीक चिह्न और अलग–अलग ध्वनि–संकेत हैं। फलतः अलग–अलग भौगोलिक क्षेत्रों की अलग–अलग भाषाएँ हैं।

भाषा के संदर्भ में भी वही नियम लागू होता है जो ज्ञान की अन्य विधाओं में। अर्थात् भाषा हर बार नयी नहीं बनती, बल्कि पूर्ववर्ती पीढ़ी द्वारा परवर्ती पीढ़ी इसका ज्ञान प्राप्त करती हैं। हाँ, यह अवश्य है कि समय–समय पर पीढ़ियाँ इसमें अपने अनुकूल परिवर्तन और परिवर्द्धन करती चलती हैं, ताकि यह समकालीन विषय–सन्दर्भों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो। हर पीढ़ी को समाज में परंपरा–पोषित एक समृद्ध भाषा

---

1. डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, भाष–विज्ञान और भाषा–शास्त्र, पृष्ठ : 47

मिलती है, लेकिन उसे अपने प्रयासों से व्यक्तिगत बनाना पड़ता है। यानी भाषा की प्राप्ति एक सायास प्रकिया है। डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी लिखते हैं––

> ''भाषा पैतृक–परंपरा के रूप में अनायास नहीं मिलती है। भाषा सीखनी पड़ती है, अर्जित की जाती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव के जन्म के समय समाज में भाषा की स्थिति है, पर वह बालक को स्वतः सिद्ध नहीं होती है। बालक में बोलने की शक्ति है। उसे वाक्–शक्ति मिलती है, परन्तु शब्द और अर्थ का सम्बन्ध समाज से अर्जित करना पड़ता है।''[2]

भाषा और समाज की यह अन्योन्यक्रिया दोनों को विकसित करती है। फलतः सामाजिक चेतना के अनुरूप ही भाषा का विकास होता है। यहीं से भाषा के माध्यम से समाज की अन्य सांस्कृतिक–भौतिक विधाओं के विकास का प्रारम्भ होता है। मनुष्य भाषा में ढालकर साहित्य और ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों का विकास करता है। यह ज्ञान समय–समय पर परिवर्तित होता हुआ इतना समृद्ध हो जाता है कि फिर उससे ज्ञान की अन्य नई शाखाओं का जन्म होता है। मानव सभ्यता का अब तक का ज्ञात इतिहास इसी का प्रमाण है।

भारतीय सन्दर्भ में भाषा, समाज और संस्कृति का अन्तर्सम्बन्ध भिन्न है। जन्म के साथ ही ज्ञानार्जन की जो अनिवार्य प्राकृतिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए, वह यहाँ एक समुदाय के प्रयासों से दूसरे समुदाय के लिए वर्जित रही है। भाषा का ज्ञान केवल उतना ही हो पाता है जितना दैनिक व्यवहार के लिए आवश्यक है और जब भाषा का ही ज्ञान न हो तो ज्ञान के अन्य अनुशासनों का अर्जन असंभव है। यही कारण है कि जिस परिवार में समृद्ध भाषा–ज्ञान की परम्परा नहीं होती, वहाँ ज्ञान की नई परम्परा के प्रारम्भ के लिए अनुकूल भाषा–ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है। यहाँ ज्ञान की स्मृति और श्रुति परम्परा रही है। यानी याद करना और सुनना। उस ज्ञान का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग भी दुर्लभ बात है। यही कारण है कि यहाँ के ज्ञान की अधिकांश समाज तक पहुँच ही नहीं; यही कारण है कि यहाँ का सांस्कृतिक विकास कई सन्दर्भों में अपनी आदिम अवस्था से अलग नहीं बढ़ पाया; यही कारण है कि आज पश्चिम द्वारा विकसित हर नई तकनीक पर 'हमारे

---

2. डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, भाष–विज्ञान और भाषा–शास्त्र, पृष्ठ : 47

यहाँ यह बहुत पहले से थी' कहकर अपना दावा तो कर दिया जाता है, लेकिन इसका कोई प्रमाण न प्रस्तुत कर पाने के कारण स्थिति हास्यास्पद हो जाती है।

दलित साहित्य अपने प्रारम्भिक रूप में सीमित भाषा ज्ञान का साहित्य माना गया। इसके लेखकों पर भाषा–ज्ञान के अभाव का आरोप लगाया गया, लेकिन इस सीमा के बावजूद इसने सामाजिक यथार्थ की निःसंकोच अभिव्यक्ति की जो परम्परा विकसित की, आज वह तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य के लिए स्पृहणीय है। हालाँकि यह स्पृहा भी तब उत्पन्न हुई जब दलित साहित्य समाज में स्थापित हो चुका। उससे पहले सवर्ण आलोचक उसमें कलात्मकता के अभाव का आरोप लगाकर उसे अस्वीकार ही करते रहे। इस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कँवल भारती लिखते हैं–

> ''ब्राह्मणवाद का सारा माया–जाल छन्द और कला के तन्तुओं से ही बना है। यह उनकी दादागिरी है। लिखो तो शास्त्र के अनुसार लिखो, जो नियम, जो भाषा–शिल्प निर्धारित है, उसको अपनाओ, वरना लिखो मत। अगर लिखोगे, तो उसका कोई मूल्य नहीं, अस्वीकार कर दिए जाओगे। लेकिन इस कला और छन्द शास्त्र के समर्थक सुन लें, दलित साहित्य इसका मोहताज नहीं है, यह शास्त्रों से मुक्ति की चेतना का साहित्य है, इसकी अपनी भाषा है, अपनी भावभूमि है।''[3]

साहित्यिक–सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए भाषा एक माध्यम है और दलित साहित्य ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया। इसका तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं है कि दलित साहित्य भाषा और कला की समृद्धि का विरोधी है। दलित साहित्य सामाजिक यथार्थ और उस यथार्थ से सम्बद्ध जन–समुदाय की सर्वांगीण

अभिव्यक्ति को महत्व देता है, न कि कला–कौतुक और निरर्थक भाषा–विलास को। यही कारण है कि दलित साहित्य ने भाषा की उन तमाम रूढ़ियों को तोड़ा है जो संस्कृति के नाम पर विभिन्न स्तरों पर इंसान के शोषण का आधार मजबूत करती रही हैं। दलित साहित्य भाषा की तथाकथित कलात्मक रूढ़ियों के बिना उत्पन्न, विकसित और समृद्ध हुआ

---

3. कँवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, पृष्ठ : 110

है, यही इसकी सार्थकता है और भाषा में कलावाद की निरर्थकता। कलावाद दरअसल भाषा के यथार्थ को नष्ट कर देता है।

2. अभिव्यक्ति का नया मुहावरा

हर साहित्यिक आन्दोलन की अपनी एक नई और विशिष्ट विचाराधारा होती है। दलित साहित्य का उद्‌भव और विकास पुरानेपन और रूढ़ियों के विरुद्ध नई, समकालीन, सार्थक अभिव्यक्ति के रूप में हुआ है। इसने साहित्यक–कलात्मक अभिव्यक्ति के किसी रूढ़िगत पैमाने को स्वीकार नहीं किया, बल्कि अपने मापदण्ड स्वयं निर्मित किये।

आत्मकथा विधा को दलित साहित्य में केन्द्रीय महत्व देना इस बात का प्रमाण है कि यह साहित्यधारा काल्पनिकता की अपेक्षा यथार्थपरकता को महत्व देती है। आत्मकथा में किसी कल्पना, झूठ, अतिशयोक्ति, भाषिक छल–प्रपंच की संभावना नहीं रहती, इसलिए यह दलित साहित्य के यथार्थपरक दृष्टिकोण के सबसे अनुकूल विधा है। इसके अतिरिक्त दलित साहित्य ने आत्मकथा विधा की अवधारणा में भी व्यापक बदलाव किया है। बजरंग बिहारी तिवारी हिन्दी साहित्य में आत्मकथा विधा की दयनीय स्थिति का कारण इसके लिए अनिवार्य न्यूनतम ईमानदारी के अभाव को मानते हैं––

> ''हिन्दी साहित्य में विधाओं का जो विकास है, उसमें आत्मकथा काफी पीछे है। वैसे, एक पारम्परिक और विविधतापूर्ण समाज में इसे सर्वाधिक विकसित होना चाहिए था। आत्मकथा–लेखन की संस्कृति के पिछड़ेपन का कारण शायद यही है कि यह विधा जिस न्यूनतम ईमानदारी की माँग करती है, उसे निबाहने का साहस यहाँ लगभग अनुपस्थित है। पाखण्ड जहाँ जीवन–शैली का अंग हो, वहाँ खरेपन की आशा कैसे की जा सकती है ?''[4]

बजरंग बिहारी तिवारी ने यहाँ भारतीय समाज व्यवस्था की उस कमज़ोर नस को पकड़ा है, जहाँ पाखण्ड ही जीवन–मूल्य है। लेकिन आत्मकथा में ईमानदारी एक अनिवार्य अर्हता है। कल्पना आधारित साहित्यिक विधाएँ पाखण्ड–प्रवृत्ति के अनुकूल हैं, इसलिए यहाँ

---

4. बजरंग बिहारी तिवारी, जूठन : एक विमर्श, संपादक : शिवबाबू मिश्र, पृष्ठ : 135

ऐसी विधाओं का विकास अधिकाधिक हुआ और आत्मकथा विधा उपेक्षित ही रही। जो लिखी भी गईं, उनमें से अधिकांश लोकप्रिय नहीं हो सकीं।

इसके अलावा, आत्मकथा विधा के सन्दर्भ में जो रूढ़िवादी विचार थे कि यह कोई प्रसिद्ध व्यक्ति ही लिखता है, कि यह आयु की अन्तिम अवस्था में ही लिखी जाती है, कि जीवन संघर्षों से मुक्ति और सन्तुष्टि की स्थिति में कोई व्यक्ति इसे लिखता है आदि ने भी लेखकों को इस विधा के प्रति प्रतिकर्षित किया। इस सन्दर्भ में 'झोपड़ी से राजभवन' के लेखक माता प्रसाद लिखते हैं––

> ''मेरे मन में था कि आत्मकथा या जीवनियाँ महापुरुषों या बड़े ही लोगों की होती हैं। इसलिए मुझ जैसे गरीब परिवार में पैदा हुए व्यक्ति के मन में अपने बारे में लिखने को सोचा भी नहीं जा सकता था।''[5]

लेकिन बहुत समय तक लेखक की यह धारणा बनी न रह सकी। हाँ, यह अवश्य है कि जीवन के कठिन समय को पार करने के बाद ही आत्मकथाकार के मन में यह विचार आया कि विपरीत परिस्थितियों में भी कठिन संघर्ष के दिनों को आत्मकथा के रूप में अभिव्यक्त करना चाहिए ताकि मेरी जैसी परिस्थितियों में जीने वालों को संघर्ष की प्रेरणा मिले––

> ''बड़े–बड़े महापुरुष, सत्तासम्पन्न लोग और सुख–सुविधा भोगी लोगों की परिस्थितियाँ अनुकूल होती ही हैं, उन्हें तो आगे बढ़ना ही चाहिए। xxx लेकिन मेरे जैसे निर्धन और दलित परिवार में पैदा हुए व्यक्ति जिसकी परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं उसने भी कठिनाइयों को दूर करते हुए आगे की ओर कुछ कदम बढ़ाया है, इस पर मेरे मन में यह विचार आया कि अपने बारे में भी क्यों न लिखूँ ? इससे समाज के दलित, असहाय, गरीब लोगों को प्रेरणा मिलेगी और उनमें उत्साह पैदा होगा।''[6]

इस तरह दलित साहित्यकारों ने आत्मकथा के सन्दर्भ में प्रचलित रूढ़िवादी अवधारणाओं को नकारकर स्वतन्त्र दृष्टि से लिखना प्रारम्भ किया। जीवन के विषय में दलित साहित्यकार की अवधारणा अलग है। उनकी दृष्टि में संघर्ष जीवन का अनिवार्य अंग है,

---

5. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ : 7

6. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ : 7

और इसी संघर्ष को उन्होंने आत्मकथा में ज्यों–का–त्यों उतारा। जीवन की अन्तिम अवस्था में आत्मकथा लिखने की बजाय अधिकांश दलित रचनाकारों ने अपनी युवावस्था में ही आत्मकथाएँ लिखीं। तब वे न तो वृद्ध थे, न जीवन–संघर्ष से मुक्त, न संतुष्ट। चूँकि उन्होंने जीवन–संघर्ष को ही साहित्य का सौन्दर्य माना, इसलिए आत्मकथा में उस संघर्ष को उतारा। हिन्दी की सभी दलित आत्मकथाओं में यह संघर्ष व्याप्त है। जहाँ संघर्ष होता है, वहाँ स्वाभिमान होता है; और ईमानदारी के बिना स्वाभिमान असंभव है। इसी ईमानदारी ने दलित जीवन में आत्मकथा के लिए उपजाऊ परिवेश दिया। 'अपने–अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास नैमिशराय बचपन से ही संघर्ष करते रहे। चूँकि संघर्षशील थे, इसलिए स्वाभिमानी और ईमानदार भी बने रहे। लेखक ने अपनी कमज़ोरियों को भी उतनी ही ईमानदारी से आत्मकथा में व्यक्त किया है जितनी ईमानदारी से अपनी मजबूतियों को। विफल प्रेम–प्रसंग, स्त्री के प्रति आकर्षण, मुम्बई के वेश्या–बाज़ार की सैर, अपने से दोगुनी उम्र की महिला के साथ संभोग, सामाजिक क्रांति की परिकल्पना को साकार करने के प्रयास में परिवार के प्रति अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार... और अन्त में आर्थिक संकट के कारण बीमार पुत्र के साथ पत्नी का मायके चले जाना, फिर वहीं लेखक की अनभिज्ञता में पुत्र की मृत्यु––सब कुछ को पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त करने का साहस है इस आत्मकथाकार में।

दलित साहित्य सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम् की पारम्परिक अवधारणा को ज्यों–का–त्यों नहीं स्वीकार करता। वह यह नहीं मानता कि जो सत्य है वही शिव (शुभ) है और जो शिव है वही सुन्दर है। दलित साहित्कार ने इस अनुक्रम को बदला, इसके प्रमाण दलित आत्मकथाओं में मिलते हैं। दलित जीवन और भारतीय समाज के कुरूप और कटु यथार्थ को दलित आत्मकथाकारों ने अपने लेखन की सार्थकता माना, और जो सार्थक है, उनकी दृष्टि में वही सुन्दर है। सुन्दर का आशय यह नहीं कि उसकी अभिव्यक्ति सुखकर है, बल्कि वह सुन्दर समाज के लिए आवश्यक है। आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति के लिए किस तरह बीते हुए दुख–दर्द को दुबारा जीना पड़ता है, इसके विषय में 'जूठन' की भूमिका में ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं––

> ''एक लंबी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएँ मैंने भोगीं। स्वयं को परत–दर–परत उधेड़ते हुए कई बार लगा–

कितना दुखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।''[7]

दलित जीवन के दुख–दर्द और कष्ट लोगों को अतिरंजनापूर्ण इसलिए लगते हैं कि उन्हें ऐसे विषयों को साहित्य में पढ़ने की आदत नहीं थी। समाज का सबसे निम्न व्यक्ति किसी रचना में नायक या नायिका हो, यह उनके लिए अकल्पनीय था। दलित जीवन के जिन घृणास्पद सन्दर्भों को अब तक लेखक छूना तक नहीं पसन्द करते थे, दलित लेखकों ने उन्हें अपने लेखन का केन्द्रीय विषय बनाया। स्पष्ट है कि संभ्रान्त वर्ग के मन में ऐसी आत्मकथाओं के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न होगी, जिसमें सुअर, कीचड़, टट्टी, नाला, चमड़ा, सड़ा मांस आदि का वर्णन हो। लेकिन यह दलित जीवन का अनिवार्य हिस्सा है, दलित जीवन और भारतीय समाज का यथार्थ है, इसलिए दलित रचनाकारों ने ऐसे विषयों को साहित्य का विषय बनाकर लोगों को भारतीय समाज के यथार्थ से परिचित कराया। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' का एक प्रसंग देखें जहाँ जीवन–यापन की न्यूनतम सुविधाओं के अभाव में पल रहे बच्चों को सुअर का कच्चा मांस चबाने के लिए दिया जाता है––

''सुअर के माँस के छोटे–छोटे टुकड़े करते समय माँस काटने वाले बच्चों को सुअर की चर्बी युक्त खाल, जिन्हें 'तिक्का' कहते हैं, पकड़ा दिया करते थे। मौहल्ले के सभी बच्चे उन तिक्कों को गचर–गचर चबाते। XXX आज उन दिनों को याद कर मन घृणा से भर जाता है। सुअर का कच्चा माँस खाना कितना असभ्य और घिनौना कार्य है। दोनों हाथ और मुँह चर्बी से सने रहते थे। मुँह और हाथों पर असंख्य मक्खियाँ भिनभिनाती रहती थीं। छी...अब सोच–सोचकर उबकाई आ रही है।''[8]

लेकिन लेखक एक बार फिर उबकाई भरे उस जीवन को जीता है, आत्मकथा में उसे अभिव्यक्त करता है; क्योंकि यह पूरे दलित समाज का यथार्थ है। यह उस आदर्श भारतीय समाज का यथार्थ है जिसमें घृणा नहीं, निर्धनता नहीं, दुख नहीं, कष्ट नहीं, भेद–भाव नहीं। जो सुख–समृद्धि की खान है, आदर्शों का भण्डार है, ऐसे भारतीय समाज के यथार्थ को उद्घाटित करना साहित्यकार का कर्तव्य है, इसलिए वह सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम् के प्रचलित ढर्रे से अलग साहित्यिक अभिव्यक्ति का अपना मुहावरा ख़ुद गढ़ता है।

7. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 8

8. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, पृष्ठ : 27

इसके विपरीत तथाकथित मुख्यधारा का साहित्य समाज के उस कुरूप यथार्थ पर पर्दा डालता रहता है, जिसके निवारण के बिना देश–समाज के विश्वस्तरीय विकास की परिकल्पना तक संभव नहीं। दलित आत्मकथाएँ उस कुरूपता को उन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त करती हैं––

''होली का बल्ला तरे–तरे
भंगनिया चो.....परे–परे

X X X

बुरा न मानो होली है।
बामन का लं....पसेरी है।
दलित औरतों की बारी है।''[9]

तथाकथित सभ्य समाज जीवन में तो इसका आचरण करने में गर्व महसूस करता है, लेकिन साहित्य में इसका प्रयोग अश्लील मानता है। दलित आत्मकथा में ऐसे सन्दर्भ साहित्य की अश्लीलता को नहीं दर्शाते, बल्कि भारतीय समाज की उस अश्लीलता को दर्शाते हैं जो सदैव नैतिकता–पवित्रता का चोला ओढ़े रहता है।

भाषा और शब्दावली को लेकर भी दलित साहित्यकारों और उनकी आत्मकथाओं में कोई दुराव नहीं है। जो प्रदूषण समाज में है, उसके निराकरण के लिए उसे साहित्य में अभिव्यक्त करना ज़रूरी है; अन्यथा अभिव्यक्ति अपूर्ण, फलतः असंप्रेषणीय होगी और उसके प्रति सहृदय की अपेक्षित प्रतिक्रिया के अभाव में वह सब निरर्थक हो जाएगा। तो दलित आत्मकथाएँ नई दृष्टि, नए विचार–बोध, नए पैमाने के साथ नए भाषा–शिल्प में भारतीय समाज की विसंगतियों को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करती हैं।

3. उत्पीड़न और संघर्ष से उपजी भाषा का बदलता चेहरा

भारतीय समाज–व्यवस्था में दलितों को सबसे निम्न स्तर पर रखा गया है। सामाजिक स्तरीकरण में स्वाभाविक स्थिति यही है कि उच्चतम स्तर वाला सर्वाधिक वर्चस्वशाली होता है और निम्नतम स्तर वाला सर्वाधिक शोषित। इस तर्क से ब्राह्मण सर्वाधिक वर्चस्वशाली

9. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 56

हैं, शेष सवर्ण उनसे कम तथा दलित सर्वाधिक शोषित। वर्चस्व का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए 'समाज विज्ञान विश्वकोश' में लिखा गया है––

> ''वर्चस्व का तात्पर्य प्रभुत्व की उस संरचना से है जो सहमति के आधार पर लागू की जाती है या जो जोर–जबरदस्ती के बिना नफीस किस्म के तौर–तरीकों (आर्थिक सत्ता, मीडिया, शिक्षा, प्रचार और लोकोपकारी नीतियाँ) का इस्तेमाल करके समाज में अपने लिए सहमति कायम कर लेती है।''[10]

भारतीय सामाजिक सन्दर्भ में सबसे पहले स्त्रियों पर पुरुषों ने अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए इन तौर–तरीकों का प्रयोग किया, फिर दलितों पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए सवर्णों, विशेषतः ब्राह्मणों ने इसी तंत्र का प्रयोग किया। इस दृष्टि से दलितों की सामाजिक दृर्दशा का एक कारण ब्राह्मणवादी विचार प्रणाली तो है ही, दूसरा महत्वपूर्ण कारण स्वयं दलितों की विचार–प्रणाली का न होना भी है। सवर्णों ने सामाजिक नियमों को दलितों पर थोप दिया और दलितों ने उन्हें स्वीकार कर लिया। यह स्वीकार्यता उनकी भाषा से भी व्यक्त होती है।

भाषा चूँकि भाव, विचार और ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम है, तो वर्चस्वशालियों की कूटनीति से प्रभावित शोषित वर्ग की भाषा वैसी ही निरीह हो जाती है जैसी उसकी भावना होती है। दलित आत्मकथाओं में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनसे दलित पात्रों में व्याप्त भय और उनकी निरीहता का पता चलता है। 'जूठन' के लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि के पिता जब उनका प्रवेश बेसिक प्राइमरी विद्यालय में कराने गए तो वहाँ मास्टर हरफूल सिंह के सामने गिड़गिड़ाने लगे––

> ''मास्टर जी, थारी मेहरबानी हो जागी जो म्हारे इस जाकत (बच्चा) कू बी दो अक्षर सिखा दोगे।''[11]

विद्यालय में लेखक का प्रवेश तो हो गया, लेकिन अछूत और भंगी होने के कारण हेडमास्टर ने पहले ही दिन उन्हें खानदानी काम के बहाने पूरे स्कूल को झाड़ू लगाकर साफ करने का आदेश दे दिया। छोटा बालक ओम प्रकाश दिन भर पूरे स्कूल में झाड़ू

---

10. समाज–विज्ञान विश्वकोष (खण्ड–1), संपादक : अभय कुमार दुबे, पृष्ठ : 1708
11. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 12

लगाता रहा। दूसरे दिन लेखक अपनी कक्षा में बैठ गया तो हेडमास्टर ने फिर से जाति और माँ की गाली देते हुए बुलाया और पूरे स्कूल में झाड़ू लगाने का आदेश दे दिया। थोड़ी देर बाद लेखक के पिता ने उधर से गुजरते हुए देखा तो क्रोधित हो उठे––

> ''कोण–सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे है...''12

यह है उत्पीड़न से उपजी भाषा का बदला हुआ चेहरा। यह वही पात्र है जिसके व्यवहार में निरीहता घर कर गई है, जिसकी भाषा में विनम्रता इतनी घुल गई है कि वह गिड़गिड़ाहट की सीमा को पार कर चुकी है। लेकिन जब उत्पीड़न सहने की सीमा पार कर जाए तो उसमें उग्रता का आना स्वाभाविक है। इन आत्मकथाओं में दलित पात्रों की भाषा जहाँ भी उग्र है, उससे पहले उनके उत्पीड़न और संघर्ष का सन्दर्भ ज़रूर है। मोहनदास नैमिशराय और उनके भाई बचपन में बहन की ससुराल जा रहे थे। रास्ते में एक जगह पानी माँगने पर ब्राह्मणों ने मना कर दिया तो उन्हें गड्ढे का गंदा पानी पीना पड़ा। बाद में बहन के ससुर ने शराब पीकर उन ब्राह्मणों को बहुत बुरा–भला कहा––

> ''स्साले बामन, म्हारे मेहमान को पानी देने से मना कर दिया। तम इत्ते उच्चे हो गये ! ठहर जाओ, म्मैं तमारे पानी में पिसाब कर दूंगा। थूक्कूंगा, फेर पीन्ना उसे। म्हारे मेहमान ढोर–डांगरों के साथ पानी पीयै..... ।''[13]

लेखक की बहन के ससुर की भाषा में न इतना आक्रोश होता, न ब्राह्मण के प्रति उसका हेय दृष्टिकोण बनता, अगर उसके मेहमानों के प्रति समाज के तथाकथित उच्च वर्ग का व्यवहार संतुलित होता। दलित व्यक्ति सवर्णों के अन्याय–अत्याचार का विरोध सामान्यतः इसी तरह अपना आक्रोश बाहर निकालकर करते हैं। जहाँ उनके प्रति अन्याय होता है, प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उनका आक्रोश व्यक्त हो उठता है। दलित साहित्य में वर्णित ऐसे प्रसंगों की आड़ में प्रायः आलोचक इस पर अश्लीलता का आरोप भी लगाते हैं। उपर्युक्त उद्धरण से भी इस बात के संकेत मिल जाएँगे कि इस पर अश्लीलता का आरोप लगा दिया जाय, किंतु जितने सरलीकृत रूप में हम यह देखते हैं, उतना है नहीं।

---

12. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 16

13. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 70

दलित समुदाय के प्रति सवर्ण मानसिकता में जो अन्याय–अत्याचार का भाव पल–बढ़ रहा होता है, समय–असमय वह अवसर पाकर प्रायः व्यवहार रूप में परिणत होता रहता है। जाति के नाम पर घृणा, धनसंचय न करने देना, संपत्ति रखने के अधिकार से वंचित कर देना, अस्पृश्यता का इतना घृणित स्तर कि दलित की परछाई तक से परहेज करना, घृणास्पद नाम रखना, मैले व फटे–पुराने वस्त्र पहनने को देना, बेगार कराना, जब जी चाहे दलित स्त्री का यौन शोषण करना––और इन सबके बदले कभी–कभार आक्रोशित होकर एक दलित द्वारा उपर्युक्त संवाद की तरह सवर्णों के प्रति अपना क्रोध व्यक्त करना––क्या दोनों समान हैं ? एक ने दूसरे के जीवन को पशुओं से भी बदतर बना दिया, इसका कोई विरोध नहीं; दूसरा इस बदतर जीवन स्तर के बदले साहित्य में केवल कुछ अपशब्द कह दे––क्या दोनों का अपराध समान है ! चूँकि दलित अन्याय का विरोध कर रहा है, इसलिए उसे सौ प्रतिशत नैतिक आचरण करना चाहिए; उसे अपना उग्र विरोध नहीं व्यक्त करना चाहिए––क्या यह न्याय है ! दूसरी ओर, चूँकि एक ब्राह्मणवादी की प्रवृत्ति स्वभावतः अन्यायी है, इसलिए उस पर कोई नैतिक सवाल न खड़ा करना, न्याय है ! दलित साहित्य के सन्दर्भ में सवर्ण आलोचकों की यही राय है। अत्याचार के विरुद्ध दलित का आक्रोश असह्य है उन्हें। इस सन्दर्भ में नामवर सिंह लिखते हैं––

> ''दलित लेखन अब शुरू हुआ है––पहली बार और इसकी कुछ विशेषताएँ हैं––सारी सवर्ण व्यवस्था के खिलाफ गुस्सा और उसको तोड़कर एक नई व्यवस्था के निर्माण के लिए पहल। लेकिन वह गुस्सा ही गुस्सा है फिलहाल। गुस्सा और नफरत उसका नया कार्यक्रम है।''[14]

नामवर सिंह का यह आरोप निराधार है। पहली बात तो यह कि दलित साहित्य केवल 'गुस्सा–ही–गुस्सा' नहीं है। न वह समाज में नफरत फैलाना चाहता है। उसका उद्देश्य है भारतीय समाज में व्याप्त तमाम तरह के भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार, शोषण आदि का विरोध कर इनके बदले समता, बन्धुता, न्याय और स्वतन्त्रता पर आधारित समाज की स्थापना। लेकिन सवर्ण मानसिकता के लोग पूरी व्यवस्था पर अपना एकाधिकार चाहते हैं। इसलिए न्याय की बात उन्हें अन्याय लगती है और अन्याय के विरुद्ध एकजुटता जातिवाद तथा नफरत। वे सब कुछ केवल अपने पक्ष में रखना चाहते हैं। ब्राह्मणवादियों

---

14. नामवर सिंह, दलित लेखन के अन्तर्विरोध, संपादक : डॉ0 रामकली सर्राफ, पृष्ठ : 14

की इसी मानसिकता को ध्यान में रखते हुए शरण कुमार लिम्बाले ने अपने एक साक्षात्कार में ओम प्रकाश वाल्मीकि से कहा है––

> ''जब हम हक की बात करते हैं तो आप को विद्रोह लगता है। हम सामाजिक न्याय की बात करते हैं तो आपको समाज में दरार पड़ने का भय सताने लगता है ××× जो समाज में दरार है उसे मिटाने की चिंता है हमें। यही दलित साहित्य की मूल संवेदना है।''[15]

लेकिन विडंबना यह है कि दलित साहित्य की इस मूल संवेदना को दरकिनार कर लोग इसके उस नकारात्मक पक्ष को उजागर करने का षड़यंत्र कर रहे हैं जो वास्तव में है ही नहीं, जिसकी कोई प्रामाणिकता नहीं।

दलित आत्मकथाओं में जिस तरह का विरोध, विद्रोह या आक्रोश दर्शाया गया है, वह वास्तव में प्रसंगों के अनुरूप अनिवार्य है। यदि वह न हो तो किसी भी रचना की स्वाभाविकता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है। इसके अलावा, आत्मकथा में केवल जीवन की सच्ची घटनाओं का समावेश किया जाता है। इसलिए यदि जीवन में ऐसे प्रसंग हैं तो आत्मकथा–लेखन में भी ऐसे प्रसंगों का होना अनिवार्य है।

सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'संतप्त' का सन्दर्भ लें––उनके कार्यालय का वरिष्ठ सहकर्मी के0सी0 मलहोत्रा उन्हें अपमानित करता रहता है––

> ''इस भारत सरकार का बेड़ा गर्क हो, पता नहीं कहाँ–कहाँ से ऑफिस में चूहड़े–चमार भर लिए जाते हैं। ××× देख, तूने जो सरकार से गीदड़ प्रमाण पत्र ले रखा है, उससे मैं डरने वाला नहीं।''[16]

बार–बार के इस अपमान से परेशान होकर आखिर एक दिन लेखक उसके केबिन में पहुँच गया––

> ''ओये तू पाकिस्तानी है तो मैं कोटे (आरक्षण) वाला भारतवासी हूँ..... अब बोल तेरे साथ क्या किया जाए ?''[17]

---

15. शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र; पृष्ठ : 131
16. सूरजपाल चौहान, संतप्त, पृष्ठ : 51
17. वही, पृष्ठ : 52

और इसके बाद लेखक ने के0सी0 मल्होत्रा की खूब पिटाई की; इतनी कि वह थर–थर काँपने लगा। फिर लेखक ने उसे नसीहत दी––

> ''आगे से किसी शिड्यूल्ड–कास्ट वाले को जाति को लेकर उल्टा–सीधा कहा तो घर तक नहीं छोड़ूँगा।''[18]

इस घटना के आधे घंटे बाद ही के0सी0 मल्होत्रा ने सूरजपाल चौहान का तबादला अपने अनुभाग से हटाकर डाक अनुभाग में कर दिया; लेकिन लेखक ने उसके साथ जो व्यवहार किया वह उसे मजबूर होकर करना पड़ा था। जीवन भर कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए अगर किसी व्यक्ति को सम्मान से जीवन–यापन का अवसर मिल जाए, मगर केवल एक जाति विशेष का होने के नाते कदम–कदम पर उसे अपमानित होना पड़े तो वह अपमानित करने वाले की भाषा में जवाब देने को विवश हो ही जाएगा।

प्रतिकार की यह भाषा दलित आत्मकथाओं में कई जगह मिलती है, जिसका संकेत यही है कि अब समाज को अपने ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण को बदलना चाहिए। जो दलित संघर्ष करने के लिए दृढ़ निश्चय कर लेता है, वह स्वाभिमान की रक्षा भी करेगा।

दोहरा अभिशाप, मेरा सफर मेरी मंजिल, झोपड़ी से राजभवन में ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। इसके विपरीत 'नागफनी' में रूपनारायण सोनकर ने ब्राह्मणवादी अत्याचार के विरुद्ध जिस उग्र भाषा का प्रयोग किया है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। लेखक के गोरे रंग को देखकर गाँव का पंडित हरिशंकर अवस्थी कहता फिरता था कि सुन्दर दलित स्त्रियों से जब ब्राह्मण शारीरिक सम्बन्ध बनाते हैं तो उनसे उत्पन्न होने वाले दलित गोरे होते हैं, क्योंकि ब्राह्मण अक्सर गोरे होते हैं। इसके जवाब में लेखक ने जो कहा, वह किसी भी ब्राह्मण को आत्मग्लानि से भर देने के लिए पर्याप्त है––

> ''अब सुनिए ब्राह्मणों की संतानें काली क्यों होती हैं ? दलित ब्राह्मणों के घरों में काम करते हैं, ब्राह्मण जब अपने घरों में नहीं होते हैं तो ब्राह्मणों की औरतें हट्टे–कट्टे बलवान दलितों पर मर मिटती हैं। उनके सम्पर्क से ब्राह्मण औरतों की जो संतानें उत्पन्न होती हैं वे काली होती हैं।''[19]

---

18. वही, पृष्ठ : 52

19. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 53

किसी दलित द्वारा ब्राह्मण को उसी की भाषा में ऐसा जवाब बड़े दुस्साहस का काम है, और यह दुस्साहसी काम रूपनारायण सोनकर ने अठारह वर्ष की आयु में किया। इसका कारण यही है कि अपनी अस्मिता के प्रति सचेत दलित अब किसी भी तरह का अपमान सहने को तैयार नहीं और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए वह हर तरह का संघर्ष करने के लिए तैयार है––वह चाहे वाक् युद्ध हो, या अस्त्र–शस्त्र युद्ध। 'नागफनी' का ही एक और उदाहरण है। होली के अवसर पर ब्राह्मण अक्सर दलित स्त्रियों के लिए अश्लील तुकबन्दी किया करते थे––

''होली का बल्ला तरे–तरे
खटिकिनिया चो.....परे–परे
x x x
होली का बल्ला तरे–तरे
पसिनिया चो.....परे–परे
x x x
बुरा न मानो होली है
बामन का लं.... पसेरी है।
दलित औरतों की बारी है।''[20]

इसका जवाब देने के लिए लेखक ने अपने साथियों से मिलकर योजना बनाई कि अगली होली पर पूरी तैयारी करनी है। होलिका दहन की रात यही हुआ। ब्राहमणों की ओर से दलित औरतों को गालियाँ देने की शुरुआत हुई ही थी कि दलितों ने भी उन्हीं शब्दों में जवाब देना शुरू कर दिया––

''होली का बल्ला तरे–तरे
बमनिया चो.....परे–परे
x x x
बुरा न मानो होली है।
दलितों का लं....पसेरी है
बामन औरतों की बारी है।''[21]

---

20. वही, पृष्ठ : 55–56

21. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 58

इतना सुनते ही ब्राह्मण हक्के–बक्के रह गए। उन्होंने इसका विरोध किया तो लेखक ने सफाई दी ––

> ''यदि तुम हमारी माँ–बहिनों को हम लोगों के सामने गाली दोगे तो हम भी तुम्हारे सामने तुम्हारी माँ–बहिनों को गाली देंगे।''[22]

और फिर दोनों तरफ से नारेबाज़ी, अश्लील गाली–गलौज होते–होते बात मार–पीट तक पहुँच गई। दोनों ओर के तमाम लोग घायल हुए।

दलितों द्वारा ऐसा कट्टर जवाब ब्राहमणों द्वारा सामाजिक परिवर्तन को न स्वीकारने का नतीजा है। सामंतवाद और राजतंत्र के विपरीत अब लोकतंत्र है, ऐसे में सबके लिए समान नागरिक संहिता है, अगर उसका पालन करने की बजाय कोई विशेषाधिकर प्राप्त वर्ग अपनी मनमानी करेगा तो समाज में संघर्ष होना स्वाभाविक है।

दलित आत्मकथाकारों ने विभिन्न पात्रों की भाषा को ज्यों–का–त्यों प्रस्तुत कर दिया है, जिससे उनकी यथार्थ भावना का पता चलता है। कई बार लेखक किसी पात्र की बजाय स्वयं सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध तर्क–वितर्क प्रस्तुत करते हैं। उनकी पूरी आत्मकथा भाषा के इसी बदलते चेहरे का प्रमाण है। यह भाषा कई बार दलित–सवर्ण संघर्ष को जन्म भी देती है, लेकिन इसका मूल कारण सामाजिक भेद–भाव है। ब्राह्मणवादियों द्वारा दलितों के प्रति किये गए भेद–भाव,शोषण और अन्याय–अत्याचार के प्रतिक्रियास्वरूप साहित्य में ऐसी भाषा का प्रयोग ओम प्रकाश वाल्मीकि ज़रूरी मानते हैं––

''नकार, विरोध, प्रतिरोध, विद्रोह को व्यक्त करने के लिए दलित कवि जिस भाषा का प्रयोग करता है वह तेज बहाव की तरह है। नदी के उफनते जल का वेग जो किनारों को तोड़ बन्धनमुक्त होना चाहता है। आलोचकों को इस भाषा के उद्‌गम को समझना होगा, क्योंकि दलित साहित्य की भाषा का सीधा सम्बन्ध दलित जीवन से है। अपने दग्ध अनुभवों को दलित रचनाकार सीधे–सीधे साहित्य में प्रस्तुत करता है, बिना किसी लाग–लपेट के।''[23]

---

22. वही, पृष्ठः 58

23. ओम प्रकाश वाल्मीकि,दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ : 83

समाजिक भेद–भाव, उत्पीड़न, अन्याय–अत्याचार और शोषण से पीड़ित व्यक्ति द्वारा ऐसी भाषा का प्रयोग स्वाभाविक है। आलोचक बिना कारण जाने ही इसका विरोध करते रहते हैं, जबकि इससे मुक्ति तभी संभव है जब सामाजिक न्याय की परिकल्पना को यथार्थ में उतारा जाय।

4. स्थानीयता के प्रति आग्रह

एक समृद्ध भाषा विस्तृत देश–काल से सम्बद्ध और अनुभव सम्पन्न समाज की उपलब्धि होती है। कई पीढ़ियों द्वारा संचित और अनुभवों से पोषित ज्ञान के समावेश से ही उसमें पूर्णता की संभावना आती है। स्पष्ट है कि सीमित देश–काल किसी भाषा को दरिद्र भी बना सकता है।

हिन्दी दलित साहित्य ने परम्परा से चली आ रही भाषा में स्थानीयता को समाकर उसे और भी वैविध्यपूर्ण, रोचक और समर्थ बनाया। अपनी स्थानीय बोली का पुट देकर रचनाकारों ने दलित आत्मकथाओं को और स्वाभाविक रूप दिया है तथा अधिकाधिक संप्रेषणीय भी बनाया है। हिन्दी भाषा का क्षेत्र पूर्व में बिहार–झारखण्ड से लेकर पश्चिम में राजस्थान तक और उत्तर में उत्तराखण्ड–हरियाणा से लेकर दक्षिण में छत्तीसगढ़–मध्य प्रदेश तक विस्तृत है। इसके निर्माण में यहाँ की क्षेत्रीय उपभाषाओं और बोलियों का अमूल्य योगदान है। इनके योगदान को और अधिक महत्व दिया है दलित आत्मकथाकारों ने। दलित आत्मकथाओं में लेखकों ने अपने क्षेत्र की बोलियों का यथास्थान निःसंकोच प्रयोग किया है। इनका प्रयोग विशेषतः पात्र की मनः स्थिति का ज्यों–का–त्यों चित्रण करने के लिए किया गया है। मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) का एक संवाद देखें, जिसमें गर्मी, थकान, प्यास से व्याकुल लेखक और उसके भाई द्वारा एक बुजुर्ग सवर्ण से पानी मांगे जाने पर उसका जवाब है–

> '' तो म्हारे घर अग्गे कियों खड़े हो ? जाओ सिद्दे–सिद्दे, आगे चमारों के ही घर पड़ेंगे पैले। **XXX** म्हारे घर चमारों की खात्तर पानी ना है **XXX** अग्गे झोड़ है, वईं मिल जागा पानी–वानी तमै।''[24]

---

24. मोहनदास नैमिशराय, 'अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 68

उपर्युक्त संवाद से बुजुर्ग की मनःस्थिति के साथ–साथ भारत की तथाकथिक सामासिक संस्कृति का भी यथार्थ स्पष्ट हो जाता है। उसके दिमाग में जातिवाद कूट–कूट कर भरा है; चमार उसके लिए इतने घृणास्पद हैं कि वह उन्हें पानी पीने के लिए 'झोड़' (जोहड़–तालाब) पर जाने तक की नसीहत दे देता है। वह जोहड़ जिसका पानी जानवर पीते हैं। यह संवाद अगर मानक हिन्दी में लिखा गया होता तो उतना संप्रेषणीय न होता जितना कि हो सका है। भारतीय समाज की जातिवादी संस्कृति के साथ–साथ इस संवाद से स्थानीय संस्कृति का भी आभास मिलता है।

ऐसी ही एक और परिस्थिति में ज़मींदार द्वारा बोला गया संवाद पढ़ें तो उपर्युक्त संवाद बहुत शालीन प्रतीत होगा। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' का संदर्भ है। लेखक और उसकी पत्नी दिल्ली से अलीगढ़ के अपने गाँव जा रहे थे। बस से उतकर पगडंडी से होकर पाँच किलोमीटर पैदल चलना था। गर्मी और थकान से व्याकुल दोनों को पानी की ज़रूरत थी। रास्ते में एक धर्मशाला के पास बने कुएँ के पास बैठे बुजुर्ग ज़मींदार से उन्होंने पानी माँगा। उसने पहले तो उन्हें कुएँ से पानी निकालकर पीने के लिए कह दिया, पर बाद में जाति पूछी तो ख़ुद पानी पिलाने लगा और लेखक की पत्नी ओक (अंजलि) से पानी पीने के लिए एक कदम आगे बढ़ी; इस पर बुजुर्ग बोला––

> ''अरे भंगनिया, नेक पीछे कू हट के पानी पी, यह शहर ना है गाँव है, मारे लठिया के कमर तोड़ दई जाएगी.....। भैंचो भंगिया और चमट्टा के सहर में जाकै नए–नए लत्ता पहर के गाँव में आ जात हैं, कुछ पतौ न चलतु कि जे भंगिया के हैं कि नाय।''[25]

जमींदार के मनोभावों की ज्यों–कि–त्यों अभिव्यक्ति उसी के लहजे में तभी सम्भव हो सकी जब उसकी स्थानीय बोली का प्रयोग लेखक ने किया, अन्यथा यह अभिव्यक्ति उतनी सम्प्रेषणीय न बन पाती जितनी कि है।

दलित आत्मकथाकारों ने स्थानीय बोलियों का प्रयोग विशेष अवसरों तथा अपरिहार्य परिस्थितियों में ही किया है। सामान्यतः वे मानक हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं, लेकिन जब किसी दलित या ग़ैर–दलित पात्र द्वारा किसी संवेदनशील मुद्दे पर कुछ बोला जाता है तब

---

25. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, पृष्ठ : 31

लेखक उस कथन को उसके मूल रूप में ही अभिव्यक्त कर देता है। यह दलित आत्मकथाकारों द्वारा भाषा को व्यवहार में लाने की अपनी शैली है जिसका उपयोग अधिकांश ने किया है।

स्थानीय बोलियों में दलित पात्रों द्वारा बोले गए संवाद भी हैं जिनका प्रयोग यथाप्रसंग दलित आत्मकथाओं में मिलता है। यह ध्यातव्य है कि परिस्थिति की अनिवार्यता में ही स्थानीय भाषा का प्रयोग किया गया है। जहाँ ज़मींदारों और सवर्णों की बोली में अक्खड़ता और अहंकार है, वहीं निम्नलिखित उदाहरण में एक दलित बाप की निरीहता और विनम्रता का उदाहरण मिलता है––ओम प्रकाश वाल्मीकि से स्कूल में झाड़ू लगवाने पर उनके पिता ने उन्हें स्कूल छुड़ा दिया और फिर प्रधान के पास फरियाद करने गए––

> ''चौधरी साहब, तम तो कहो ते सरकार ने चूहड़े–चमारों के जाकतों के लिए मदरसों के दरवाजे खोल दिए हैं। और यहाँ वो हेडमास्टर मेरे इस जाकत कू पढ़ाने के बजाए क्लास से बाहर लाके दिन भर झाड़ू लगवावे है। जिब ये दिन भर मदरसे में झाड़ू लगावेगा तो इब तम ही बताओ बढ़ेगा कब ?''[26]

पिता के उपर्युक्त कथन से उनकी विनम्रता, हताशा–निराशा, निस्सहायता और निरीहता झलकती है, जबकि वही पिता बेटे को स्कूल में झाड़ू लगाते हुए देखकर क्रोधित हो उठे थे––

> ''कोण–सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे है... **XXX** मास्टर हो..... इसलिए जा रहा हूँ.... पर इतना याद रखिए मास्टर..... यो चूहड़े का यहीं पढ़ेगा....इसी मदरसे में। और यो ही नहीं, इसके बाद और आवेंगे पढ़ने कू।''[27]

यही नहीं, लेखक की माँ भी अपनी विद्रोह भावना को अत्यन्त उग्र शब्दों में व्यक्त करती है। जब सुखदेव सिंह त्यागी की बेटी की शादी में उसने अपने बच्चों के लिए खाना माँग लिया और बदले में मिलीं सिर्फ गालियाँ, घुड़कियाँ और जाति के नाम का अपमान मिला, तब माँ ने पूरे साहस और निर्भीकता से यह जवाब दिया––

---

26. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 17

27. वही, पृष्ठ : 16

''इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा....''[28]

ठीक इस संवाद के पहले अपने बच्चों के लिए माँ की भी विनम्रता और निरीहता उसी के शब्दों से स्पष्ट हो जाती है––

> ''चौधरी जी, ईब तो सब खाणा खा के चले गए....म्हारे जाकतों कू भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंतजार कर रे ते।''[29]

दलित आत्मकथाओं में स्थानीय बोलियों के साथ–साथ यथास्थान क्षेत्रीय भाषाओं और अंगेज़ी का भी प्रयोग मिलता है। ऐसे प्रयोगों के प्रति कहीं कोई झिझक नहीं, बल्कि इन्हें कथ्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया गया है। ऐसे प्रयोगों से रचना और भी संप्रेषणीय हो जाती है। सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा 'तिरस्कृत' में एक स्थान पर पंजाबी भाषा का प्रयोग किया है। 1998 में दिल्ली विधानसभा चुनाव में लेखक तथा उसके सहकर्मियों की चुनाव में ड्यूटी लगी थी। चुनाव के बाद लोग अपने मतदान स्थल की चर्चा कर रहे थे। लेखक की ड्यूटी शकूरबस्ती में लगी थी। अपने सहयोगी एन0एस0 उप्पल से जब लेखक ने पूछा तो वह चिढ़कर बोला––

> ''ओ बस पूछ न यार, मेरी तां मंगोलपुरी दे चुहड़ियाँ दे इलाकेच लगी सी। ऐ साले चूहड़े–चमार किन्ने गंदे होंदे हन, मैंने तो ओसे दिन जाना यार....बिना नाहे–धोए साले आ जांदे हन वोट पाण नू.....ए चूहड़े तो चूहड़े होंदे हन।''[30]

इस कथन को मूल पंजाबी में ज्यों–का–त्यों प्रस्तुत करना अनिवार्य प्रतीत हो रहा है। इसे पढ़कर उस एन0एस0 उप्पल के चेहरे के हाव–भाव और उसकी मानसिकता का अनुमान लगाना एकदम आसान है। यहाँ पंजाबी भाषा के संस्कार और लेखक के सहयोगी उप्पल के भीतर चल रहे दलित–विरोधी द्वंद्व को आसानी से समझा जा सकता है। लगभग सभी आत्मकथाकारों ने इस तरह की स्थानीय बोलियों को अपनी आत्मकथा में यथाप्रसंग प्रयुक्त किया है।

---

28. वही, पृष्ठ : 21

29. वही, पृष्ठ : 21

30. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, पृष्ठ : 58

स्थानीय बोलियो के पूरे–पूरे वाक्य–प्रयोगों के अलावा हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में यथावश्यक स्थानीय शब्दावलियों का भी प्रयोग मिलता है। पिसाब, अक्खारे, लाट–गवन्नर, कुड़ली, दगड़ा, हगनहट, दिके, म्हारा, ओसारा, हलवाही, सौर, पटिदारी, दुद्धी, झापड़, ठोकवा, दौरी, मरनी–करनी, भोलुआ, बसीठा, रकेबी, डोकर, घेंटा, घेंटिया, इब, जिब, दिके, कौण आदि ऐसे सैकड़ों शब्द तथा पद हिन्दी दलित आत्मकथाओं में स्थानीय बोलियों के प्रयुक्त हुए हैं जो इन्हें अधिकाधिक स्वाभाविक तथा संप्रेषणीय तो बनाते ही हैं, साथ ही अन्य भाषा–भाषियों के लिए रोचक और आकर्षक भी बनाते हैं। सबसे बड़ा योगदान तो यह है कि ऐसे प्रयोग भाषा–क्षेत्र का अतिक्रमण कर उसे विस्तृत करते हैं; एक भाषिक संस्कृति को दूसरे भाषा–भाषियों से परिचित कराते हैं। इन सभी दृष्टियों से दलित आत्मकथाओं में स्थानीय एवं क्षेत्रीय भाषाओं–बोलियों के शब्दों, पदों और वाक्यों का प्रयोग महत्वपूर्ण है।

5. भाषा में श्लीलता–अश्लीलता

किसी के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा पैमाना होता है उसका आचरण। लेकिन आचरण से पहले उसकी भाषा के आधार पर उसके व्यवहार का अनुमान लगाया जा सकता है। तात्पर्य यह कि भाषा किसी के व्यक्तित्व के मूल्यांकन का प्राथमिक पैमाना है।

किसी व्यक्ति में जितने तरह के भाव उत्पन्न हो सकते हैं, भाषा उन्हें पूर्णतः या अंशतः अभिव्यक्त अवश्य कर देती है। हिन्दी की दलित आत्मकथाओं ने अपने कथ्य के बल पर हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है, साथ ही भाषा–शिल्प के नए प्रतिमान भी स्थापित किये हैं। दलित साहित्य का कथ्य यथार्थवादी है, और उसे अभिव्यक्त करने वाली भाषा भी यथार्थवादी है। यथार्थवादी भाषा में समाज का सम्पूर्ण यथार्थ अभिव्यक्त होता है, सभ्य और संभ्रांत समाज उसे श्लील कहे या अश्लील।

हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में ऐसे कई प्रसंगों का उल्लेख है जिनमें प्रयुक्त भाषा को संभ्रांत पैमाने पर अश्लील कहा जा सकता है, लेकिन इनका यथार्थ यह है कि ये प्रयोक्ता स्वयं तथाकथित सभ्य–संभ्रांत उच्च कुलीन भारतीय समाज का अंग हैं। हिन्दी

की पहली दलित आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–1) में मेरठ शहर के एक कर्फ्यू का सन्दर्भ है। शहर में कर्फ्यू के बावजूद बाहर पकड़े कए सम्मन को लेखक के घर तक पहुँचाकर वरिष्ठ पुलिस अधिकारी ने अपनी स्वाभाविक भाषा में हिदायत दी थी––

> ''इस बूढ़े से कहो कि अपने दड़बे में रहे, अभी इसकी गांड़ में गोली लग जाती तो गांड़ का सारा गू बाहर आ जाता। स्साला !''[31]

पुलिस अधिकारी, जिसे व्यावहारिक दृष्टि से अनुशासनाधिकारी कहा जा सकता है, समाज में हो रहे अपराधों को रोकने के लिए नियुक्त किये जाते हैं। लेकिन अगर वही अपराध करें तो उन्हें रोकने वाला कौन होगा ? भाषा के माध्यम से अपने दूषित विचारों को अभिव्यक्त कर दूसरों को कष्ट और दुख पहुँचाना भी अपराध है। यह अपराध और गम्भीर तब हो जाता है जब इस पर नियंत्रण की ज़िम्मेदारी लेने वाला स्वयं इसमें लिप्त हो जाय। मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–2) के एक प्रसंग में पुनः एक पुलिस अधिकारी की भाषा पर विचार किया जा सकता है, जो बच्चों की जेल का सुपरिन्टेन्डेंट है और लेखक काई परीक्षा देने के लिए इलाहाबाद में उसके पास ठहरा हुआ है। घर से भागे हुए, अनाथ बच्चों पर जेल का सुपरिन्टेन्डेंट बहुत अत्याचार करता था। एक दिन उसने एक बच्चे से पूछा––

> ''क्यों बे घोषाल, रात गाँड़ मरवाई या मार दी किसी की ? ××× दास साहब, ये स्साले रात में रोज एक–दूसरे की गाँड़ मारते और मरवाते हैं। भवेसिए हो गए हैं स्साले।''[32]

ऐसे में शर्म–संकोच के कारण लेखक प्रायः चुप रहता और पुलिसवाला लगातार अश्लील बातें करता रहता। लेकिन संयोग की बात यह है कि यह पुलिस अधिकारी भारतीय समाज की जाति व्यवस्था में सबसे ऊँचे पायदान पर आता है, जिसे भारतीय समाज और संस्कृति, शुद्धता–अशुद्धता, औचित्य–अनौचित्य, पुण्य–पाप, नीति–अनीति की सबसे ज़्यादा चिन्ता रहती है। पुलिस अधिकारी और ब्राह्मण, दोनों न सही, दोनों में से किसी एक के नाते उससे यह आशा की जा सकती है कि उसकी भाषा और भाषा का अनुगामी उसका आचरण सामाजिक पैमाने पर संतुलित रहे।

---

31. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–1), पृष्ठ : 47

32. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे (भाग–2), पृष्ठ : 108

पुलिस अधिकारी का काम है अनुशासन बनाये रखना और यदि अनुशासनहीनता या अपराध हो जाए तो उसके विरुद्ध कानूनी प्रक्रिया का प्रारम्भ करना, जबकि एक अध्यापक का काम है सदाचार सिखाना। लेकिन अध्यापक अगर सदाचार सिखाने की बजाय अपनी भाषा के माध्यम से दुराचरण को पोषित करे तो यह समाज के लिए घातक है, क्योंकि एक स्वस्थ समाज और समृद्ध राष्ट्र के निर्माण का परोक्षतः उत्तरदायित्व अध्यापक पर ही होता है। 'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि को बचपन में उनके पिता प्राथमिक विद्यालय में पढ़ने के लिए ले गए। वहाँ उनका प्रवेश तो हो गया, लेकिन हेडमास्टर ने पूरे स्कूल में झाड़ू लगाने का काम उन्हें दे दिया। वे दिन भर झाड़ू ही लगाते रहे। अगले दिन सुबह फिर स्कूल आने पर हेडमास्टर ने अश्लील गाली देते हुए पुकारा––

> ''अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया.....अपनी माँ....××× जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू..... नहीं तो गांड़ में मिर्ची डालके स्कूल से बाहर काढ़ (निकाल) दूँगा।''[33]

उपर्युक्त भाषा न तो अध्यापकीय गरीमा के अनुकूल है और न ही बहुप्रंशसित भारतीय संस्कृति के। लेकिन अन्तर्विरोध यह है कि गुणगान चाहे जितना किया जाय, प्रायः हिन्दू समाज की भाषा का सांस्कृतिक यथार्थ वही है जो उपर्युक्त उद्धरण में स्कूल के हेडमास्टर द्वारा बोला गया। विचारणीय है कि जब बोले गए शब्द इतने अश्लील हैं तो इनके माध्यम से व्यक्त विचारों का आचरण कितना अश्लील होगा ! दरअसल सारी आध्यात्मिक महानता और सांस्कृतिक उदारता भारतीय सिद्धांतों में जड़ाऊ सौन्दर्य मात्र है; इसीलिए गोबिन्द प्रसाद लिखते हैं––

> ''भारतीय आध्यात्मिकता और उससे बना भारतीय मानस चाहे उस छवि की धूल भी न हो जो हमारे शास्त्रों और संस्कृति में दिखाई गई है मगर फिर भी आदर्श तो बहुत महान रखा भारतीय परम्परा और संस्कृति ने। यह और बात है कि लक्ष्य और उस आदर्श की चुनौती को हम ही छू न पाए।''[34]

तो भाषा में जो अश्लीलता यहाँ दिखाई दे रही है वह वास्तव में भारतीय संस्कृति का एक अंग है, जिसकी यथार्थ अभिव्यक्ति दलितेतर साहित्य में प्रायः नहीं हुई है। अब जब दलित

---

33. ओम प्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृष्ठ : 15

34. गोबिन्द प्रसाद, आलाप और अन्तरंग, पृष्ठ : 88

साहित्य उसकी अभिव्यक्ति कर रहा है तो अश्लीलता का आरोप यहाँ की सामाजिक संस्कृति की बजाय दलित साहित्य पर लगाया जा रहा है। निस्संदेह यह अश्लील है, मगर दलित साहित्य में प्रयुक्त होने के कारण नहीं, बल्कि समाज में प्रयुक्त होने के कारण। इनके बिना भारतीय हिन्दू समाज और इसके पतन के मूल चरित्रों का यथार्थ चित्रण संभव नहीं। दलित आत्मकथाओं ने भारतीय संस्कृति में व्याप्त दूषित मानसिकता को ज्यों–का–त्यों अभिव्यक्त कर दिया, इसलिए ये आलोचना का शिकार हैं। इनका मन्तव्य क्या है, जब तक इस पर पुनर्विचार नहीं किया जाएगा, तब तक वास्तविक दूषण पर ध्यान नहीं जाएगा, जिससे मुक्ति ज़्यादा ज़रूरी है।

दलित आत्मकथाकारों ने ऐसे तमाम प्रसंगों का उल्लेख किया है जिनमें सवर्ण लोग दलितों को अश्लील गालियाँ देकर ही उनसे बात करते हैं। 'तिरस्कृत' के एक प्रसंग में सुमरू अपनी पत्नी की बीमारी के कारण काम पर नहीं पहुँचा तो ठाकुर ने उसे इन शब्दों में धमकाया––

> ''क्यों रे चमट्टा, साले ढेड़, बता तू काम पर क्यों न आयौ....भौंचो, अब बता तोय हरदम चमरिया की फरिया में घुसे रहने की क्या सजा दी जाए।''[35]

सुमरू की तमाम सफाई बेकार जाती है और उसे पांच जूते मारे जाते हैं।

अश्लील गालियाँ सुनना जैसे दलितों की नियति हो, इसलिए वे अपनी सामाजिक आर्थिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक दुर्दशा की ही तरह गालियों के भी विरोध में कुछ नहीं बोलते। 'संतप्त' के एक प्रसंग में जब लेखक सूरजपाल की माँ के साथ ठाकुर जयसिंह ने अश्लील हरकत की और माँ–बेटे ने इसका विरोध किया तो शेष ठाकुरों ने उल्टे उन्हीं पर आरोप लगा दिया। ठाकुर बन्नी सिंह बोला––

> ''ससुरी जे भंगन होती ही ऐसी हैं, एक–एक रोटी के लिए न जाने क्या–क्या कराती फिरती हैं।''[36]

तो साहित्य में ही नहीं, जीवन में भी अश्लीलता का पूरा आरोप दलितों पर लगा दिया जाता है।

---

35. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, पृष्ठ : 39

36. सूरजपाल चौहान, संतप्त, पृष्ठ : 25

दलित आत्मकथाओं में 'नागफनी' का वह प्रसंग भारतीय हिन्दू समाज के सबसे अश्लील प्रसंगों में से है, जिसका वर्णन रूपनारायण सोनकर ने विस्तार से किया है। होली हिन्दू संस्कृति का सबसे लोकप्रिय त्योहार है; शायद सबसे उदार भी। उदार इसलिए कि इसके बहाने कोई किसी के साथ कितनी भी अश्लील हरकत कर दे, बुरा मानने का कोई बहाना नहीं ! बल्कि अश्लील हरकतें करने का ही बहाना है यह त्यौहार।

मिल–जुलकर खुशियाँ मनाना तो इसका गौण उद्देश्य है। उदारता का पुट इसमें इसलिए डाला गया ताकि जाति–धर्म के कट्टर बंधनों में जकड़ा समाज का वर्चस्वशाली वर्ग बिना रोक–टोक दलित–पिछड़ी जातियों के घर जाकर उनकी स्त्रियों के साथ मनमाना व्यवहर कर सके। गाँव के ब्राह्मण होलिका दहन के अवसर पर दलित स्त्रियों को निशाना बनाकर अश्लील तुकबंदी किया करते थे। इस बार हीरा (लेखक रूपनारायण सोनकर) तथा उनके साथियों ने ब्राहमणों का प्रतिकार उन्हीं के शब्दों में करना तय किया। होलिका दहन पर जैसे ही ब्राह्मणों ने नारा लगाया––

''होली का बल्ला तरे–तरे
भंगनिया चो.....परे–परे
X X X
बुरा न मानो होली है
बामन का लं...पसेरी है।
दलित औरतों की बारी है।''[37]

वैसे ही दलित गुटों ने भी जवाबी नारेबाज़ी शुरू कर दी––

'होली का बल्ला तरे–तरे
बमनिया चो.....परे–परे
X X X
बुरा न मानो होली है
दलितों का लं....पसेरी है।
बामन औरतों की बारी है।''[38]

---

37. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 56

38. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृष्ठ : 58

मेल–मिलाप की संस्कृति और त्योहार के नाम पर इस अश्लील नारेबाज़ी ने मार–पीट का रूप ले लिया। बलवीर सिंह यादव और कुर्मी लोगों द्वार बीच–बचाव करने पर उरेरी मिश्र ने कुतर्क किया––

> ''ये साले ! खटिक, चमार, कोरी, पासी हमारी बराबरी कर रहे हैं। हम लोग दलित औरतों को गाली देकर खुशियाँ मना रहे हैं। ये साले ! हमारी माँ–बहिनों को भी गाली देकर सदियों से चली आ रही परम्परा को तोड़ रहे हैं।''[39]

तो ब्राह्मणवादी समाज ने परम्परा और संस्कृति को ही उस खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया है जिसे यहाँ हम अश्लीलता कह रहे हैं।

दलित आत्मकथाओं में ऐसी ही कई घटनाओं के उल्लेख और हुए हैं जहाँ भाषा में तो नहीं, लेकिन उन प्रसंगों में अश्लीलता का आरोप लगाया जा सकता है। हालांकि यहाँ भी आत्मकथाकार का मंतव्य अश्लील कतई नहीं। उसका उद्देश्य है हिन्दू समाज के उस नेपथ्य को उघाड़ना जहाँ संस्कृति की सारी कुरूपताओं को ढककर रखा गया है। इस संस्कृति का सबसे दुर्बल पक्ष यही है कि यहाँ सत्य को स्वीकार नहीं किया जाता, बल्कि असत्य का महिमामण्डन किया जाता है। ऐसे ही प्रसंगों के उद्घाटन के कारण दलित आत्मकथाओं ने समकालीन साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। दलित साहित्य भारतीय जन–मानस की उस चेतना को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त कर रहा है जिसे सदियों तक छिपाया–दबाया गया; जिसके उद्घाटन के बिना किसी समाज–देश का सर्वांगीण सम्पूर्ण विकास संभव नहीं।

भाषा का यह यथार्थवादी रूप दलित आत्मकथाओं की दुर्बलता नहीं, बल्कि उनकी मजबूती है; उनकी यह सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसकी प्राप्ति अब तक के किसी भी साहित्यिक–सांस्कृतिक आन्दोलन के लिए संभव न हो सकी। यह वह माध्यम है जो सदियों से जड़ हो चुकी भारतीय, विशेषकर हिन्दू संस्कृति की समीक्षा कर रहा है।

---

39 वही, पृष्ठः 59

उपसंहार

उपसंहार

कलाएँ सभ्यता–संस्कृति को आकर्षक, सुरुचिपूर्ण और सरस बनाती हैं। ये न हों तो तमाम दुखों–पीड़ाओं, संकटों–विसंगतियों के बावजूद मानव जीवन जितना जीने योग्य है, उतना न हो। हर व्यक्ति कला के महत्व को स्वीकार करे या न करे, लेकिन जाने–अनजाने सभी इनका उपयोग करते हैं– चाहे विशुद्ध कला के रूप में, या दैनिक उपभोग की वस्तुओं के रूप में।

अभिव्यक्ति के माध्यम तथा प्रकार के कारण कलाओं के विभिन्न रूप विकसित हुए। उन्हीं में से एक साहित्य भी है। साहित्य–संस्कृति कर्म का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, जो न केवल भाव–विचार–ज्ञान को अभिव्यक्त करता है, बल्कि अन्य कलाओं को भी समृद्ध और संचित करता है। साहित्य के ही माध्यम से अन्य कलाओं का पीढ़ी–दर–पीढ़ी संचरण होता है।

आत्मकथा साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। यह और भी महत्वपूर्ण तब हुई जब दलित साहित्यकारों ने इसे अपने मार्मिक जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति के रूप में अपनाया। दलित साहित्यकारों के जीवनानुभवों ने भारतीय समाज के उस यथार्थ को उद्‌घाटित किया जिसने इसके विकास में सबसे बड़ी बाधा उत्पन्न की है और इसे जड़ बनाया है। इससे पूर्व की हिन्दी आत्मकथाओं में व्यक्तिगत उपलब्धियों का बखान तो होता था, मगर समाज की जगह न के बराबर होती थी।

जाति–व्यवस्था का महिमामण्डन हो या इसके अस्तित्व से नकार, दोनों ही स्थितियों ने देश–समाज का बहुत अहित किया है। एक ने इस देश की प्रगतिशीलता में बाधा उत्पन्न कर सांस्कृतिक जड़ता को और भी अधिक दृढ़ किया तो दूसरे ने इस जड़ता का प्रशस्तिगान कर प्रगति की संभावनाओं को समाप्त किया और पतन के कारणों से आँख चुराने में सहायता की। दलित साहित्य विशेष रूप से दलित आत्मकथाओं ने इन तमाम स्थितियों को सत्य उद्‌घाटित कर दिया है।

सवर्ण समाज ने दलितों को सम्मानजनक स्थान नहीं दिया और दलितेतर साहित्य ने दलित साहित्य के अस्तित्व से इनकार किया। लेकिन दलित साहित्य की लोकप्रियता और मुख्यधारा में इसके सशक्त हस्तक्षेप ने दलितेतर साहित्यकारों को लालच की हद तक आकर्षित किया। अब प्रायः हर स्थापित–संभावित साहित्यकार दलित साहित्य की रचना में सक्रिय रूप से सम्मिलित होना चाहता है, जबकि दलित इससे सहमत नहीं हैं। इस स्थिति ने साहित्य में अनुभव की प्रामाणिकता सम्बन्धी ऐसे प्रश्न उठाए जिसने दलित साहित्य में लम्बी बहस को जन्म दिया। दलितेतर रचनाकारों द्वारा दलित विषय पर रचित साहित्य को सहानुभूतिजन्य, फलतः अप्रामाणिक माना जाता है तथा दलितों द्वारा दलित चेतना से युक्त साहित्य को स्वानुभूतिजन्य और प्रामाणिक माना जाता है। यह दलित चेतना बुद्ध–फुले–अम्बेडकर के समता–स्वतन्त्रता–बन्धुता पर आधारित चिन्तन से उद्‌भूत और समृद्ध होती है। फलस्वरूप दलित साहित्य केवल जाति ही नहीं, बल्कि धर्म–संप्रदाय, भाषा–क्षेत्र, रंग–रूप, कद–काठी, स्त्री–पुरुष आदि विभिन्न आधारों पर होने वाले भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार और शोषण का विरोधी है तथा समता–स्वतंत्रता–बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना के लिए संघर्षरत है।

भारतीय समाज के विकृत यथार्थ का उद्‌घाटन दलित आत्मकथाओं की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यहाँ वर्ण–व्यवस्था, जाति–व्यवस्था तथा इन पर आधारित भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार–शोषण से नजर बचाकर भारतीय सभ्यता–संस्कृति का महिमामण्डन नहीं है, बल्कि सामाजिक विकृतियों को उद्‌घाटित कर उनसे मुक्ति का प्रयास है। दलित समाज की दुर्दशा के चित्रण के अलावा इन आत्मकथाओं में विधवा–विवाह, प्रेम–विवाह, युवावस्था में पति की मृत्यु के बाद देवर से विवाह, सहजीवन की सामाजिक स्वीकृति आदि दलित सांस्कृतिक विशेषताओं का भी उल्लेख है जिन्हें आज का संभ्रांत वर्ग प्रगतिशील मानता है। पुरुषवाद का वर्चस्व और दलित स्त्रियों की दुर्दशा दलित समाज में भी है, लेकिन दलित संस्कृति में स्त्रियों के जीवन को सरल बनाने का प्रयास है तो इसके ठीक विपरीत सवर्ण समाज में स्त्रियों के जीवन को कठिन बनाने का षड्‌यन्त्र।

देश में बंधुआ और समाज से बहिष्कृत अस्मिताओं का सच तो दलित आत्मकथाओं में मिलता ही है, इनमें उन अपवादों का भी समावेश है जो विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग से सम्बद्ध हैं, लेकिन स्वतंत्रता–समता–बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समर्थन भी दे रहे हैं। ये 'अपवाद' सामाजिक विकास की सशक्त

संभावना हैं। भारतीय समाज में व्याप्त श्रम की उपेक्षित संस्कृति भी इन दलित आत्मकथाओं के केन्द्र में है, जहाँ श्रमिक जन जीवन–यापन की अनिवार्य सुविधाओं से भी वंचित हैं, जबकि विशेषाधिकार प्राप्त ब्राह्मणवादी अकर्मण्य होकर भी समस्त सुख–सुविधाओं से सम्पन्न। इन स्थितियों के अध्ययन से भारतीय समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता के मूल कारणों का पता चलता है। शिक्षा किसी भी समाज के विकास का मूल आधार है। सामाजिक सम्मान पाने के लिए संघर्ष की जितनी गहन और व्यापक अभिव्यक्ति इन दलित आत्मकथाओं में हुई है, उससे कहीं अधिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए किये जा रहे प्रयासों को इनमें महत्व दिया गया है। शिक्षा के अभाव में किसी भी समाज का सम्यक विकास असम्भव है––कठोर संघर्ष से प्राप्त शिक्षा के फलस्वरूप दलित आत्मकथाकारों को जीवन में मिली सफलता इसका प्रमाण है। दलित समाज के विकास का अब तक का मूल आधार शिक्षा ही है, यह इन आत्मकथाओं से प्रमाणित होता है। हालाँकि यह भी एक खेदजनक तथ्य है कि अधिकांश मामलों में हिन्दू समाज ने दलितों की शिक्षा का भरपूर विरोध किया है, जबकि ईसाई मिशनरियों के कार्यकर्ताओं ने सवर्णों द्वारा उत्पन्न तमाम संकटों और मार–पीट के बावजूद दलितों की शिक्षा में निर्णायक भूमिका निभाई है। दलित आत्मकथाएँ भारतीय समाज में व्याप्त जातिवादी अत्याचारों का जीवंत दस्तावेज भर नहीं हैं। इनमें अपनी दुर्दशा पर दलितों का रोना–धोना ही नहीं दिखाया गया है, बल्कि उस दुर्दशा के कारणों के विरुद्ध संघर्ष को भी अभिव्यक्त किया गया है। ये कारण दलितेतर समाज में तो हैं ही, स्वयं दलित समाज में भी व्याप्त हैं। अतः सवर्ण समाज की जातिवादी मानसिकता का विरोध करने के साथ–साथ दलित समाज में व्याप्त ब्राह्मणवाद से भी निपटने की रणनीति बहुत ज़रूरी है।

भाषा, साहित्य, समाज और संस्कृति का अनिवार्य सम्बन्ध है। यह अनिवार्य सम्बन्ध दलित आत्मकथाओं में भी परिलक्षित होता है। जीवन के प्रति जो यथार्थवादी दृष्टिकोण दलित समाज का है, वही दलित साहित्यकारों का भी है। यही कारण है कि दलित साहित्य में कविता–कहानी–उपन्यास आदि कल्पना आधारित विधाओं की अपेक्षा यथार्थ आधारित विधा 'आत्मकथा' का महत्व अधिक है। इन आत्मकथाओं में दलित जीवन की विसंगतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति तो है ही, साथ ही उनसे मुक्ति के लिए संघर्ष की संभावना और पहल भी है। यह पहल भाषा के उस स्वरूप में निहित देखी जा सकती है

जो शोषण–उत्पीड़न, अन्याय–अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह की अभिव्यक्ति के रूप में ढलकर आता है। दलित पात्रों की भाषा में उग्रता का यही मूल कारण है।

भावनाओं को स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त करने के लिए आत्मकथाओं में प्रायः पात्र की स्थानीय बोली का प्रयोग किया गया है। यह स्थानीयता न केवल पात्र के मनोभावों को उसके मूल रूप में प्रस्तुत करती है, बल्कि स्थानीय भाषा–संस्कृति का भी परिचय देती है। यही नहीं, दलित समाज जिन तिरस्कारपूर्ण सम्बोधनों और गालियों का अपमान रोज़ सहता है, उन्हें भी आत्मकथाकारों ने ज्यों–का–त्यों प्रयुक्त किया है। तथाकथित संभ्रांत वर्ग के लिए यह 'साहित्य में अश्लीलता' का मुद्दा हो सकता है, लेकिन यह 'जीवन में अश्लीलता' से बेहतर तो है ही, उससे मुक्ति के लिए भी ज़रूरी है।

हिन्दी की दलित आत्मकथाएँ अपने कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर प्रायः एक–सी प्रतीत होती हैं, लेकिन वे ऊब बिल्कुल नहीं पैदा करतीं। दरअसल यह एकरूपता केवल उनकी संवेदना में है। यह संवेदनात्मक एकरूपता इन आत्मकथाओं की कमज़ोरी नहीं, बल्कि मजबूती है। यह अखिल भारतीय स्तर पर पूरे दलित समाज की सांस्कृतिक एकरूपता और जाति आधारित शोषण–उत्पीड़न, अन्याय–अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष की सांगठनिक शक्ति है। यह इस बात का प्रमाण है कि पूरे भारत में दलितों पर ग़ैर–दलितों का अत्याचार समान है और उसके विरुद्ध आंदोलन भी पूरे भारत में समान है। बुद्ध–फुले–अम्बेडकर के सिद्धान्तों पर आधारित दलित साहित्य पहला ऐसा सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलन है जो इतने व्यापक और गहरे स्तर पर पूरे देश में एक साथ संचालित हो रहा है। दलित साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विधा के रूप में रचित दलित आत्मकथाएँ भारतीय समाज के जातिवादी यथार्थ को उद्घाटित करते हुए स्वतंत्रता–समता–बंधुता पर आधारित एक सशक्त और समतामूलक समाज के निर्माण हेतु चेतना के विकास एवं प्रसार में अमूल्य योगदान कर रही हैं।

सहायक ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

ओम प्रकाश वाल्मीकि — **जूठन**
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 1997

कौसल्या बैसंत्री — **दोहरा अभिशाप**
परमेश्वरी प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 1999

डी0आर0 जाटव — **मेरा सफ़र मेरी मंज़िल**
समता साहित्य सदन, जयपुर
पहला संस्करण : 2002

माता प्रसाद — **झोपड़ी से राजभवन**
नमन प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 2002

मोहनदास नैमिशराय — **अपने–अपने पिंजरे** (भाग–1)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 1995

मोहनदास नैमिशराय — **अपने–अपने पिंजरे** (भाग–2)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 2000

रूपनारायण सोनकर — **नागफनी**
शिल्पायन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 2007

सूरजपाल चौहान

तिरस्कृत

अनुभव प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद

पहला संस्करण : 2002

सूरजपाल चौहान

संतप्त

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

पहला संस्करण : 2006

सन्दर्भ ग्रन्थ

ओम प्रकाश वाल्मीकि — **दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र**
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 2001

ओम प्रकाश वाल्मीकि — **मुख्यधारा और दलित साहित्य**
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 2010

कँवल भारती — **दलित विमर्श की भूमिका**
इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद
तीसरा संस्करण : 2004

कँवल भारती — **दलित साहित्य की अवधारणा**
बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर
तीसरा संस्करण : 2006

डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी — **भाषा–विज्ञान और भाषा–शास्त्र**
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
चतुर्थ संस्करण : 2014

के॰एम॰ सन्त — **भारतीय संविधान बनाम मुनस्मृति**
दलित टुडे प्रकाशन, लखनऊ
संस्करण : 1998

कृष्णदत्त पालीवाल — **दलित साहित्य : बुनियादी सरोकार**
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण : 2009

गणपति चन्द्र गुप्त — **साहित्य–विज्ञान**
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
संस्करण : 1992

गोबिन्द प्रसाद — **आलाप और अन्तरंग**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण : 2011

पं॰ जनार्दन झा (टीकाकार) — **मनुस्मृति**
सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली
संस्करण : 2011

डा0 दीपक कुमार
डॉ0 देवेन्द्र चौब (सं॰) — **हाशिये का वृत्तान्त**
आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा
प्रथम संस्करण : 2011

डॉ0 धर्मवीर — **दलित चिन्तन का विकासः अभिशप्त चिन्तन से इतिहास चिन्तन की ओर**
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : 2008

डॉ0 बैजनाथ सिंहल — **हिन्दी विधाएँः स्वरूपतामक अध्ययन**
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़
प्रथम संस्करण : 1988

डॉ0 बैजनाथ सिंहल — **हिन्दी की प्रमुख विधाएँ**
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़
प्रथम संस्करण : 1998

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर — **भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा उन्मूलन, भाषायी प्रांतों पर विचार, रानोडे, गाँधी और जिन्ना आदि (सम्पूर्ण वाड्.मय, खण्ड : 1)**

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर — **हिंदुत्व का दर्शन**
(सम्पूर्ण वाड्.मय, खण्डः6)
डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार नई दिल्ली
पाँचवाँ संस्करण : 2013

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर — **अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी**
(सम्पूर्ण वाड्.मय, खण्डः9)
डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार नई दिल्ली
पाँचवाँ संस्करण : 2013

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर — **शूद्र कौन थे**
(सम्पूर्ण वाड्.मय, खण्डः13)
डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार नई दिल्ली
पाँचवाँ संस्करण : 2013

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर — **कांग्रेस एवं गाँधी ने अस्पृश्यों के लिए क्या किया**
(सम्पूर्ण वाड्.मय, खण्डः16)
डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार नई दिल्ली
पाँचवाँ संस्करण : 2013

प्रो0 माजदा असद — **गद्य की नई विधाओं का विकास**
ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : 1991

डॉ0 मैथिली प्रसाद भारद्वाज — **पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त**
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़,
द्वितीय संस्करण : 1994

रमणिका गुप्ता (सं0) — **दलित चेतना : साहित्य**
नवलेखन प्रकाशन, हजारी बाग, बिहार
संस्करण : 1996

राजेन्द्र यादव — **आदमी की निगाह में औरत**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
दूसरा संस्करण : 2007

डॉ0 रामकली सर्राफ (सं0) — **दलित लेखन के अन्तर्विरोध**
शिल्पायन, दिल्ली
संस्करण : 2012

डॉ0 रामचन्द्र (सं0) — **दलित साहित्य की विकास–यात्रा**
साहित्य संस्थान, गाजियाबाद
संस्करण : 2013

रामस्वरूप चतुर्वेदी — **हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास**
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
तेईसवाँ संस्करण : 2012

विनीता अग्रवाल — **हिन्दी आत्मकथाएँ : सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण**
सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण : 1989

विमल थोरात — **दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर**
अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : 2008

श्यामाचरण दुबे — **मानव और संस्कृति**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
तृतीय संस्करण : 1982

श्यौराज सिंह बेचैन , देवेन्द्र चौबे (सं0) — **चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य**
लता साहित्य सदन, गाजियाबाद
संस्करण : 2010

शरण कुमार लिम्बाले — **दलित साहित्य का सौन्दर्य**
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण : 2005

डॉ0 शशि सहगल — **साहित्य विधाएँ**
किताब घर, नई दिल्ली
संस्करण : 1992

शिवबाबू मिश्र (सं0) — **जूठन : एक विमर्श**
शब्दसृष्टि, दिल्ली
संस्करण : 2006

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' — **साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया**
सं॰ : कृष्णदत्त पालीवाल
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण : 2010

डॉ0 सुभाष चन्द्र — **दलित आत्मकथाएँः अनुभव से चिंतन**
साहित्य उपक्रम, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण : 2006

सुमन राजे — **साहित्येतिहासः संरचना और स्वरूप**
ग्रन्थम, कानपुर
प्रथम संस्करण : 1975

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी — **साहित्य सहचर**
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
संस्करण : 2002

डॉ0 हरिनारायण ठाकुर — **दलित साहित्य का समाजशास्त्र**
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
संस्करण : 2009

डॉ0 हरिमोहन — **साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार**
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : 1997

पत्र–पत्रिकाएँ

1. **अपेक्षा,** जुलाई–दिसम्बर 2003, संपादक : तेज सिंह

2. **अपेक्षा**, जनवरी–मार्च 2008, संपादक : तेज सिहं

3. **अपेक्षा**, जुलाई–दिसम्बर 2010, संपादक : तेज सिंह

4. **बनास जन**, अप्रैल 2014, संपादक : पल्लव

5. **दलित साहित्य** (वार्षिकी), 2012, संपादक : जयप्रकाश कर्दम

6. **युद्धरत आम आदमी**; विशेषांक, 2009 संपादक : रमणिका गुप्ता

7. **हंस** (आत्मकथा अंक), 1932, संपादक : प्रेमचंद

8. **हंस,** जनवरी–2001, संपादक : राजेन्द्र यादव

9. **हंस,** अगस्त–2004, संपादक : राजेन्द्र यादव

10. **हंस,** जून 2008, संपादक : राजेन्द्र यादव

कोश ग्रंथ

1. **हिन्दी विश्वकोश**, संपादक : डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, भगवत शरण उपाध्याय, गोरख प्रसाद; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1960

2. **बृहत् हिन्दी कोश;** सं0–कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव; ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी संस्करणः सित0 1992

3. **हिन्दी साहित्यकोश** (भाग–1); प्रधान संपादकः डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी संस्करणः 2005

4. **समाज–विज्ञान विश्वकोश** (सं0) –अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण : 2013